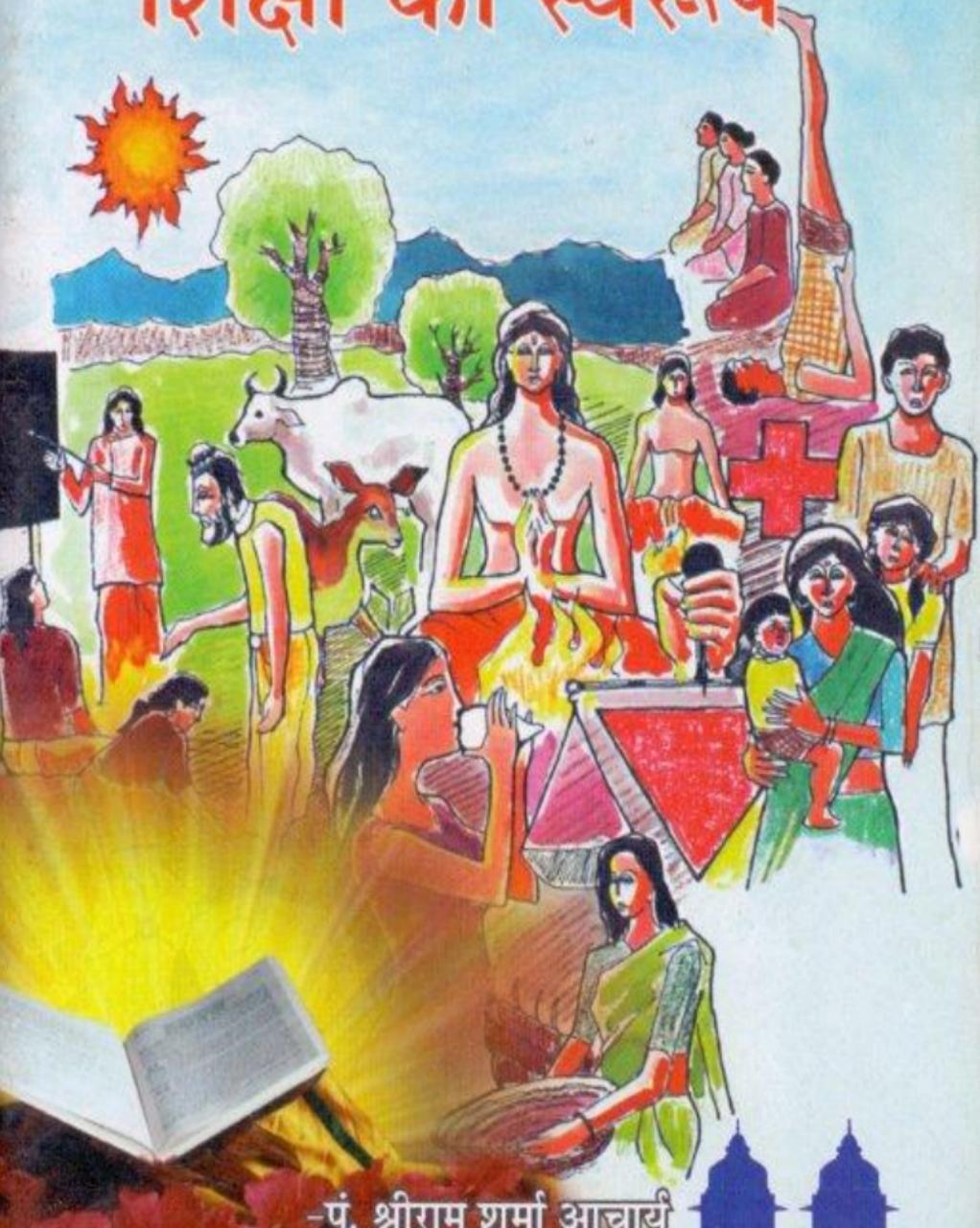


सार्थक एवं समग्र शिक्षा का स्वरूप



-पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

सार्थक एवं समग्र शिक्षा का स्वरूप



लेखक :
पं० श्रीराम शर्मा आचार्य
डॉ० प्रणव पंड्या (एम० डी०)



प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा
फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९
मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९
फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०१४

मूल्य : १२.०० रुपये

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३



लेखक :

**पं० श्रीराम शर्मा आचार्य
डॉ० प्रणव पंड्या (एम० डी०)**



पुनरावत्ति सन् २०१४



मुद्रक :

**युग निर्माण योजना प्रेस
गायत्री तपोभूमि, मथुरा-३ पिन-२८१००३
फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९
मो०-९९२७०८६२८९, ९९२७०८६२८७, फैक्स : २५३०२००**

प्राक्कथन

संचार साधनों ने आज दुनियाँ को बहुत छोटी बना दिया है। समय की गति तेज हो गई है। पुरातन और नवीन के बीच भारी अंतर आ गया है। गुत्थियाँ भी बेहिसाब उलझी हैं और वे अपना समाधान चाहती हैं।

प्रस्तुत परिस्थितियों में कोई तीक्ष्ण बुद्धि, साधन-संपन्न और प्रतिभावान व्यक्ति भी समीपवर्ती लोगों के द्वारा उपलब्ध हुए ज्ञान के आधार पर समय के अनुरूप समाधान नहीं सोच सकता, न कठिनाइयों का सामयिक हल सोच सकता है और न प्रगति के लिए आवश्यक मार्ग उपलब्ध कर सकता है। उसे भी शिक्षा अर्जित करना व परस्पर विनिमय का क्रम बनाना पड़ता है।

यह सब किस प्रकार संभव हो ? इसके लिए सामयिक साहित्य चाहिए। ऐसा साहित्य जो युग-मनीषियों द्वारा प्रस्तुत किया गया हो और जिसमें व्यक्तित्व के परिष्कार तथा समाज के सुधार का सही मार्गदर्शन किया गया हो। अब किसी के पास इतनी फुरसत नहीं, जो व्यक्ति की अनेकानेक समस्याओं के संबंध में आएदिन उपयुक्त परामर्श देता रहे। इसके लिए उपयोगी साहित्य का आश्रय लेने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं। ऐसा पठन-पाठन हमारी दिनचर्या का एक अंग बने, तभी समय के साथ चला जा सकता है।

समय की मांग है कि रोटी ही नहीं, शिक्षा भी उपार्जित की जाए। गुजारे की ही नहीं, अध्ययन की बात भी सोची जाए। अपने सीमित ज्ञान के आधार पर इस प्रगति की दौड़ में तो पिछड़ी स्थिति में ही रहना पड़ेगा और घाटे की पूर्ति किसी प्रकार पूरी न हो

सकेगी। ज्ञान के साथ-साथ स्वावलंबन भी जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग बने, यह भी शिक्षा का उद्देश्य हो, यह भी समझा जाना चाहिए।

शिक्षा सदा से ही आवश्यक और महत्त्वपूर्ण मानी जाती रही है। पर आज तो वह जीवन का ऐसा अनिवार्य अंग है, जिसकी उपेक्षा की ही नहीं जा सकती। शिक्षा से जुड़े कई मसले ऐसे हैं, जिनका समाधान कुरसी-मेज पर बैठकर कार्यालयों में नहीं, कार्यक्षेत्र में—विद्यालयों में दूँढ़ा जाना चाहिए। इक्कीसवीं सदी की ओर बढ़ते हुए हमारे राष्ट्र के भावी कर्णधारों ने यदि अभी से इस संबंध में गंभीर रुख नहीं अपनाया, तो भविष्य अंधकारमय होगा। ऐसी कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ, जो कार्यक्षेत्र में बहुधा आती हैं, उनके समाधान इस मार्गदर्शिका में सुझाए गए हैं।

—लेखक

शिक्षा अर्थात् सुसंस्कारिता का व्यावहारिक शिक्षण

विकासवादी डार्विन के अनुसार मनुष्य बंदर की औलाद है। बंदर की यह विशेषता है कि अपने इर्द-गिर्द जो देखता है, उसी की नकल करने लगता है। तोता-मैना जो सुनते हैं, उसे रटकर सुना देते हैं। पर मनुष्य अपने आस-पास होने वाली गतिविधियों की नकल करता है। यही उसकी वास्तविक शिक्षा है। यों वह पुस्तकों, पत्रिकाओं में पढ़ता है, उससे भी कुछ न कुछ निष्कर्ष तो निकालता ही है। पर इससे पाठकों में पक्ष और विपक्ष को मंथन करके निष्कर्ष पर पहुँचने की स्वतंत्र चिंतन क्षमता कम ही होती है। देखना यह है कि इस कमी को पूरा किस प्रकार किया जाए?

इसे अपने देश का दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि शिक्षा और नौकरी पर्यायवाची बन गए हैं। जितने बच्चे पढ़कर निकलते हैं, उनकी तुलना में रिक्त स्थान कहीं कम खाली होते हैं। सबको नौकरी मिलना कठिन है। ऐसी दशा में शिक्षितों में ऐसी प्रतिभा का उपार्जन आवश्यक है, जिसके कारण उनका व्यक्तित्व निखरा हुआ हो। अन्यत्र जहाँ कहीं भी स्थान मिले या पैतृक धंधे को अपनाए—उसे अपने कौशल के सहारे संतोषजनक स्थिति पर पहुँचा सकें। सरकारी ऋण लेकर नया धंधा खोलना और उसे सफलतापूर्वक चला सकना उतना सरल नहीं है, जितना कि समझा जाता है। व्यवसाय के चढ़ाव-उतारों को समझना, मितव्ययता अपनाना और

निर्माण कार्य को ग्राहक की पसंदगी का बनाना, सीधा काम नहीं है, जिसे हर कोई मेज पर बैठकर कर सके। जिन्हें इन परिस्थितियों में जाना हो, उन्हें जनसंपर्क के लिए इस स्तर की कुशलता चाहिए, जिससे जेब भी न कटे और संबंध भी मधुर बने रहें। अन्यथा अपने कर्मचारी या साझीदार ही दुश्मन हो जाते हैं और उलटे हानि पहुँचाने पर उतारू हो जाते हैं।

स्वभाव की मधुरता, सज्जनता जनसंपर्क के लिए आवश्यक है। पर वह ऐसी भावुक न हो, जिसमें पग-पग पर गाँठ कटानी पड़े। फिर बाजार के उतार-चढ़ावों को समय की मांग, क्वालिटी आदि को भी देखना पड़ता है। यदि व्यवसाय क्षेत्र में प्रवेश करने वाले छात्र गुणों के अभ्यस्त न हुए और मितव्ययता बरतने में गड़बड़ा गए, तो बात बेकारी से भी बुरी पड़ती है। बेकारी में तो घर की रोटी ही खरच होती है, घाटे के व्यवसाय में तो हल-बैल भी नीलाम हो जाते हैं।

सुव्यवस्थित व्यक्तित्वों की हर जगह मांग है। नौकरी शासकीय हो या गैर-सरकारी, प्रतिभावान तेजी से आगे बढ़ते हैं। प्रतिभा का अर्थ बातूनीपन या चालाकी नहीं है, वरन् वह दक्षता है, जो उपयुक्त वातावरण में कर्म-कौशल से कमाई जाती है। इसके अभाव में आदमी बेवकूफ ही कहलाता रहता है और तिरस्कृत स्थिति में समय गुजारता है। इस पर भी जब साथियों की तुलना में उन्नति न होने की बात मन में खटकती है, तो जिस स्थिति में गुजारा हो रहा था, वह भी अखरने और जी जलाने लगता है। प्राइवेट सेक्टर की नौकरियों में तो अपेक्षाकृत अधिक अनुशासन और क्रिया-कौशल चाहिए, अन्यथा उनमें भी पैर नहीं टिकते।

कई बार गँवारू हिसाब लगाने वाले सोचते हैं कि जितना पैसा और समय पढ़ाई में गँवाया गया, उतना ही बैंक में जमा कर दिया होता या खेत खरीद लिया होता, तो लड़का नफे में रहता। बिना पढ़ा रहता तो क्या? मन में खिन्न और दूसरों के सामने लज्जित होने की

नौबत तो न आती। जब लोग यहाँ तक सोचने लगें, तो समझना चाहिए कि पढ़ाई में कहीं खोट है।

वस्तुतः शिक्षा का उद्देश्य यह होना चाहिए कि पढ़ाई पूरी करने के उपरांत विद्यार्थी सब ओर अपने लिए द्वारा खुले देखें। उसे यह अनुभव न हो कि सरकारी नौकरी न मिले, तो उसके भाग्य फूट गए। हाट-बाजारों में घूमकर देखते हैं, तो प्रतीत होता है कि लाखों व्यक्ति गैर-सरकारी नौकरी करते हैं और मालिकों के प्राणप्रिय बनकर रहते हैं। मालिक अपने भाग्य को सराहते हैं कि ऐसा काम का आदमी हाथ लग गया, जिसने सारा कारोबार सँभालकर हमें निश्चित कर दिया। आई० टी० आई० व अन्य उच्चस्तरीय संस्थाओं से निकलने वाले सर्वांगपूर्ण प्रतिभावान छात्रों को बड़ी कंपनियाँ इसीलिए मुँहमांगी वेतन राशि पर रख लेती हैं। उनका वेतन भी बढ़ता रहता है और समय-समय पर उपहार भी मिलते रहते हैं। इसके विपरीत ऐसे लोग भी होते हैं, जिसके हटाने या हट जाने का अवसर तलाशा जाता रहता है। सीधा-सा कारण एक ही है—व्यक्तित्व की अनगढ़ता, कुशलता, प्रवीणता और प्रामाणिकता का न होना।

देरों लोग छोटे-मोटे फेरी लगाने जैसे छिटपुट काम हाथ में लेते हैं और ग्राहकों को आकर्षित करके अच्छी कमाई कर लेते हैं। जबकि आत्महीनता से ग्रसित झेंपू लोगों की जुबान तक नहीं खुलती और घर उदास मुँह लेकर वापस चले आते हैं।

प्रतिभा की कीमत शिक्षा के समतुल्य ही है। दोनों का संयोग बैठना चाहिए और शिक्षार्थी में दोनों गुण विकसित होने चाहिए। इस सुयोग के सहारे हर स्थिति में हँसते-हँसते अपना समय काट लेने की उपलब्धि हाथ लगती है। दक्षता के समतुल्य ही है—प्रामाणिकता। ऐसे लोग ढूँढ़े नहीं मिलते जिन्हें दैनंदिन जीवन में काम आने वाली समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी और बहादुरी से संपन्न समझा जा सके।

व्यक्तिगत चरित्र में आर्थिक ईमानदारी, नारी के प्रति निश्छल दृष्टि और काम की जिम्मेदारी सँभालने की बात आती है। गैर-जिम्मेदार, मनचले, फजूलखरच और काम से जी चुराने वाले कब, कहाँ, क्या कर बैठें? इसका कोई भरोसा नहीं रहता। ऐसे लोगों से आशंका बनी रहती और अविश्वास छाया रहता है। फिर उन्हें कौन ऐसा काम सौंपेगा जिसमें गडबड़ी होने से चौपट होने में कमी न रहे। ऐसे लोग घर के भेद औरों को बता सकते हैं और उस आमदनी में हिस्सेदार हो सकते हैं। ऐसी गंध आने पर कोई उन्हें कौड़ी के मोल भी नहीं अपनाना चाहता, चाहे अभाव में काम कितना ही हर्ज होता रहे।

धोखाधड़ी चाहे छोटी ही क्यों न हो! बदनामी कराने में ढोल का काम करती है और ऐसा व्यक्ति अपने लिए कहीं भी जगह नहीं बना पाता। बाहर वालों की तरह वह घर वालों के लिए भी भार बना रहता है। परिवार में कोई नहीं सोचता कि यह अपना है या पराया। घर में से पैसा चुरा सकता है। सीखे गए काम को न करने के लिए बहाना बना सकता है। कहीं से कर्ज ला सकता है।

जिसका कोई सहयोगी, समर्थक, प्रशंसक नहीं, वह मात्र अपने बलबूते कोई बड़े काम करने में—बड़ी सफलता पाने में समर्थ नहीं हो सकता। किसी के पास कितनी ही विद्या, साधन-संपदा क्यों न हों, पर बिना स्नेह, समर्थन, सहयोग पाए कोई ऊँचा चढ़ने, आगे बढ़ने, प्रसन्न रहने की स्थिति में नहीं रह पाता। ऐसी दुर्दशा में उसे जीवन में कोई बड़ा अभाव खटकता रहता है। अपने ऊपर या साथियों के ऊपर खीझ आती रहती है। यह नैतिकता का अभाव ही है, जो मनुष्य को अपनी तथा दूसरों की दृष्टि में छोटा, अभागा ही बनाए रहता है।

नैतिकता का सामान्य अर्थ ईमानदारी समझा जाता है अथवा कामुकता की मर्यादाओं का सही रूप में पालन करना। यह नैतिकता के विशाल अर्थ का एक छोटा, बहुत छोटा अंश है, वस्तुतः उसका

तात्पर्य हैं—समग्र रूप से व्यक्तित्व का विकास। ऐसा विकास जिसमें नागरिकता, सामाजिकता एवं प्रगतिशीलता के सभी गुणों का समावेश हो।

यदि शिक्षा के साथ आजीविका का संबंध जोड़ा जाए तो भी उसकी प्राप्ति के लिए पुस्तकीय ज्ञान पर्याप्त नहीं। यदि संयोगवश उपयुक्त अवसर मिल भी जाए तो भी उसका निर्वाह करते रहना और संबद्ध व्यक्तियों को संतुष्ट करके प्रगति के अवसर प्राप्त कर सकना संभव नहीं होता। उपेक्षा, अन्यमनस्कता, रुखापन—यह भी सामाजिक दृष्टि से ऐसे दुर्गुण हैं, जो मनुष्य को दूसरों का मित्र, कृपा-पात्र नहीं बनने देते। चापलूसी या अक्खड़पन से कई बार कुछ काम निकाल तो ले जाते हैं, पर उनमें स्थायित्व नहीं होता। प्रगतिपथ का द्वार खोलने में शिक्षा और कौशल का कितना ही महत्त्व क्यों न हो! पर सबसे बड़ी योग्यता यह है कि साथियों को प्रोत्साहन देकर उन्हें योग्य कैसे बनाया जाए? उन्हें बिना रुष्ट-खिन्न किए किस प्रकार अधिक मात्रा में काम लिया जाए? बड़े कामों की जिम्मेदारी इसी प्रकार पूरी होती है। इसमें सद्गुणों की श्रृंखला ही प्रधान भूमिका निभाती है।

यदि अपने जिम्मे छोटा काम है और स्वयं काम करने तक ही जिम्मेदारी सीमित है, तो भी अपने 'बॉस' को अनुकूल रखने के लिए चापलूसी से नहीं, जिम्मेदारी अच्छी तरह निभाने से काम चलता है। अच्छा, जल्दी और साफ-सुथरा काम कर दिखाना अपने वरिष्ठों का अनुग्रह एवं साथियों का सम्मान पाने का अच्छा तरीका है।

सद्गुणों की संपदा जीवन के हर क्षेत्र में काम आती है। अपने मन को प्रसन्न एवं संतुष्ट रखने में सद्गुणों से बढ़कर और कोई थाती नहीं हो सकती। परिवार के सभी सदस्यों के साथ हिल-मिलकर रहने और हँसते-हँसाते जीने का अवसर मिलता है। व्यवसायी होने पर ग्राहकों या विक्रेताओं पर सज्जनता की गहरी

छाप पड़ती है और वे एक बार संपर्क बनाकर बार-बार नहीं तोड़ते। यही बात सेवा क्षेत्र में है। जिसका व्यक्तित्व सज्जनता से भरा है, उनके साथ काम करने वाले कर्मचारी अन्यत्र अधिक लाभ दीखने पर भी साथ नहीं छोड़ते और यदि अपना संपर्क किसी श्रेष्ठ सज्जन के साथ बँध गया है, तो उससे मिलने वाली प्रसन्नता का तथा सत्संपर्क से बढ़ने वाली योग्यता का मोह छोड़े नहीं छूटता। जो व्यक्ति जिस क्षेत्र में लंबे समय तक पैर जमाए रहता है, वह उसमें विशेषज्ञ न सही, अनुभवी तो माना ही जाता है। उनका परामर्श प्राप्त करने के लिए अनेकों आगे-पीछे फिरते हैं। वरिष्ठता का, प्रतिष्ठा का इससे बड़ा आधार और कोई हो नहीं सकता। यह लाभ निजी वैभव का उपयोग करने वाले धनाध्यक्ष या पदाधिकारी भी प्राप्त नहीं कर पाते।

जिस नैतिकता का अर्थ आज बुरी तरह अखरता है, उसे दूसरे शब्दों में प्रामाणिकता और प्रखरता ही कहना चाहिए। मात्र ईमानदारी और सज्जनता की सीमा तक नैतिकता को सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता। चतुर लोग भी इस प्रयोजन की पूर्ति नहीं करते। जिस नैतिकता का शिक्षा के साथ अविच्छिन्न संबंध जुड़ा हो उसे एक शब्द में 'व्यक्तित्व का समग्र विकास-परिष्कार' ही कहना चाहिए।

शिक्षा की सार्थकता तभी है, जब वह शिक्षार्थी को मानवी गरिमा के अनुरूप सत्प्रवृत्तियों से अभ्यस्त करा सके। क्योंकि उसी के आधार पर संबंद्ध कार्यों में सफलता मिलती है। तीक्ष्ण बुद्धि का होना न होना संयोग की बात है। वह किसी में जन्मजात रूप से होती है, किसी में परिश्रम करने पर भी थोड़ी मात्रा में बढ़ पाती है। किंतु चिंतन और चरित्र में सत्प्रवृत्तियों का समावेश होना, यह पूरी तरह शिक्षण का विषय है। जिन्हें ऐसी सत्-शिक्षा नहीं मिल पाती, वे उजड़-गँवार स्तर के पिंछड़े हुए ही रह जाते हैं। इस स्थिति में कोई अपने बालकों को नहीं छोड़ना चाहता। यही कारण है कि

शिक्षा को महत्व दिया जाता है और उसे उपलब्ध करने के लिए हर समझदार व्यक्ति सामर्थ्य भर प्रयत्न करता है। यदि आजीविका ही शिक्षा का उद्देश्य रहा होता, तो जिनके घर में साधन हैं या पैतृक व्यवसाय है, वे अपने बच्चों को पढ़ने का श्रम करने के लिए क्यों बाधित करते और क्यों उनका समय तथा अपना धन गँवाते? जितना पैसा उच्च शिक्षा में खरच होता है, जितना समय बच्चों का लगता है, उसका हिसाब जोड़ने पर प्रतीत होता है कि इस संदर्भ में जो खरच हुआ उसे किसी बैंक में जमा करा दिया जाता तो ब्याज से घर बैठे इतना मिल सकता था, जितना कि आमतौर से वेतनभोगी को मिलता है।

शिक्षा का सीधा अर्थ-सुसंस्कारिता का प्रशिक्षण है। इसे नैतिकता, सामाजिकता, सज्जनता, प्रामाणिकता आदि किसी भी नाम से पुकारा, जा सकता है। नैतिक शिक्षा अलग नाम दे देने से तो वह शिक्षाशास्त्र की एक विधा बनकर रह जाती है। उसे तो शिक्षा का एक अभिन्न अंग मानते हुए सुसंस्कारिता का व्यावहारिक शिक्षण मानकर, उसे समग्र शिक्षण में गूँथकर चलना चाहिए।



कुछ उलझी समस्याएँ और उनके समाधान

दो बैल मिलकर एक हल को ठीक तरह चला पाते हैं। दो पहियों पर गाड़ी चलती है। दो हाथ मिलकर काम करते हैं, दो पैर पारस्परिक सहयोग से लंबी यात्रा पूरी करते हैं। शिक्षा के बारे में भी यही होना चाहिए। इन दिनों उसका समूचा भार सरकार के कंधों पर है। वह यथासंभव स्कूल खोलती और चलाती है। उनमें अधिकतर छोटी आयु के बच्चे ही पढ़ते हैं। किशोरावस्था में पहुँचते-पहुँचते परिवार यह आशा करता है कि किसी योग्य हुआ बालक घर के कामों में हाथ बँटाने लगे। कुछ कमाने लगे।

भारत देहात प्रधान है। उसकी जनता छोटे देहातों में बसती है। इनमें कसबों और शहरों की तुलना में गरीबी भी अधिक है और अशिक्षा का बाहुल्य भी। ऐसा उत्साहवर्द्धक वातावरण नहीं है जिससे एक को देखकर दूसरा शिक्षित बनने के लिए उत्साह प्राप्त कर सके। फिर हर गाँव में स्कूल भी कहाँ है? बहुत हुआ तो प्राथमिक पाठशाला भर की व्यवस्था हो पाती है। इससे आगे पढ़ने के लिए दूर गाँवों में जाना पड़ता है। बीच में पड़ने वाले सुनसान को पार करते हुए आते-जाते समय बच्चे डर अनुभव करते हैं और उस हेतु अनिच्छा प्रकट करते हैं। बहाने बनाते हैं। उधर अभिभावकों को भी अपने परंपरागत व्यवसाय को खेती आदि को चलाने के लिए सहायक की आवश्यकता अनुभव होती है, दोनों की मरजी मिलने पर पढ़ाई छोड़ देने की बात बन जाती है। सोचा जाता है कि कॉलेज तक पढ़ाने का खरच पुज नहीं पाएगा। ऐसी दशा में ऊँची नौकरी मिलेगी नहीं। जगह-जगह ट्रांसफर

होते रहने पर छोटी नौकरी वालों को जो असुविधा उठानी पड़ती है, घर छूटता है, उसकी तुलना में यही अच्छा लगता है कि चिट्ठी-पत्री पढ़-लिख लेने जितना सीख लेने के उपरांत पढ़ाई बंद कर दी जाए। लड़कियों के बारे में इससे भी अधिक उपेक्षा बरती जाती है और सोचा जाता है कि जब उन्हें घर-गृहस्थी की सीमा में ही जिंदगी काटनी है, तो निर्थक शिक्षा क्यों प्राप्त करें? माँ-भावज का हाथ क्यों न बँटाएँ!

यह अपने देश के अधिकांश लोगों का चिंतन है। इसके कारण शिक्षा प्राप्त करने के लिए अपने बच्चों को प्रेरित करने में अभिभावक भी अधिक उत्साह नहीं दिखाते। स्कूलों की कमी और छात्र अभिभावकों को उपेक्षा से उच्च शिक्षा प्राप्त करने का वातावरण भी नहीं बन पाता। फिर सरकारी बजट की भी एक सीमा है। वह सभी बच्चों को अनिवार्य रूप से पढ़ने के लिए बाधित करने पर जो खरच पड़ता है, उसे जुटाने की स्थिति में ही नहीं है। पढ़ने वालों की उपेक्षा और पढ़ाने वालों की असमर्थता दोनों मिलकर स्थिति ऐसी बन जाती है कि राष्ट्र को सुशिक्षित बनाने की आवश्यकता पूरी नहीं हो पाती। गाड़ी दल-दल में फँसकर रह जाती है।

घर का काम छोड़कर पूरी पढ़ाई में लगना अपने देश की दरिद्रता को देखते हुए अति कठिन है। मात्र खाते-पीते लोग ही बच्चों को अधिक पढ़ाने की बात सोचते हैं। उन्हें भी यह आशंका बनी रहती है कि ऊँची पढ़ाई में इतना पैसा खरचने और समय लगाने के बाद भी यदि बच्चे को अच्छी नौकरी न मिली, तो उसके लिए जो समय और धन लग गया उसकी भरपाई कैसे होगी? फिर बहुत दिनों तक पढ़ना सरल भी कहाँ है? हर गाँव में प्राथमिक कक्षा के उपरांत आगे की पढ़ाई पढ़ाने की व्यवस्था भी कहाँ है? दूर गाँव आने-जाने या बोर्डिंग में रखकर पढ़ाने का भार किसी प्रकार उठाया भी जाए, तो उसे पूरा करने पर वह एकमात्र नौकरी तलाशने की फिराक में फिरता है। हर किसी को नौकरी कैसे मिले? इतनी जगहें कहाँ से आएँ? दूर दराज-

नौकरी करने जाया जाए तो कसबे-शहरों में मकान किराये ही इतने महँगे हैं कि वेतन का आधा तिहाई तो उसी में चला जाता है। इसके अतिरिक्त घिच-पिच के वातावरण में और भी कितनी ही कठिनाइयाँ हैं, जिन्हें देखते हुए सोचा जाता है कि पैतृक व्यवसाय को अपनाए रहकर गुजारा करना ही ठीक है। उसमें अधिक शिक्षा की आवश्यकता भी नहीं है।

यह हुई वे कठिनाइयाँ जो अपने देश में शिक्षा विस्तार की समस्या का समाधान नहीं होने देतीं। इतने पर भी तथ्य अपनी जगह जहाँ के तहाँ अड़े हैं। अशिक्षा और दरिद्रता दोनों अविच्छिन्न रूप से संबंधित हैं। बौद्धिक दरिद्रता, आर्थिक दरिद्रता को भी साथ रखे रहती है। जब तक मानसिक दृष्टि से विकसित नहीं हुआ जाए, तब तब बहुमुखी पिछड़ेपन से नहीं जूझा जा सकता। सीमित संपर्क से तो नगण्य जितनी जानकारियाँ ही मिल पाती हैं और उनसे दैनिक जीवन की गाड़ी ही जिस-तिस प्रकार धकेली जा सकती है। प्रगति की दिशा में एक कदम बढ़ाते ही सर्वप्रथम विकसित जानकारी की, बुद्धिमत्ता और बहुज्ञता की आवश्यकता पड़ती है, इसे जुटाने में शिक्षा की अनिवार्य आवश्यकता समझी जाती है। मात्र आर्थिक उन्नति के लिए ही नहीं, अपितु व्यक्तित्व को सभ्य, सुव्यवस्थित एवं प्रगतिशील बनाने के लिए उसके बिना काम ही नहीं चलता। अनपढ़ व्यक्ति कूपमंडूक की तरह अनगढ़ पिछड़ेपन में फँसा रहता है। वह समुन्नत क्षेत्रों से संपर्क स्थापित करने के लिए सभ्य ढंग से वार्तालाप तक नहीं कर पाता। फिर उनके साथ संपर्क साधे तो कैसे? उसे अपनी पिछड़ी बिरादरी में ही किसी प्रकार गई-गुजरी स्थिति में गुजारा करना पड़ता है। यह दुःखद और दयनीय स्थिति है। इसके कारण न तो व्यक्तित्व का विकास बन पड़ता है, न बहुज्ञता से संपन्न होना और न ही अभिनव जानकारियों के अभाव में आर्थिक प्रगति से लेकर शरीर, परिवार, समाज को उत्कर्ष के मार्ग पर चला सकना संभव होता है।

वस्तुस्थिति पर गंभीरतापूर्वक विचार किया जाए, तो यह तथ्य उभरकर सामने आता है कि गरीबी हटाओ की बात सोचने के साथ ही हमें यह भी निश्चय करना चाहिए कि शिक्षा बढ़ाओ। गरीबी और अशिक्षा एक-दूसरे के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई हैं। प्रगति होती है, तो दोनों की एक साथ होगी। किंतु साथ ही इस मार्ग के अनेकानेक अवरोधों को भी ध्यान में रखना होगा। इस संदर्भ में सबसे बड़ी बात यह है कि मात्र बच्चों को ही शिक्षित बनाने की बात सोचते रहने से काम चलने वाला नहीं है। वे तो पूरी आबादी का मात्र दसवां भाग होते हैं। शेष ९० प्रतिशत तो वे हैं जो वयस्क हो चुके, काम धंधे में लग चुके। उन्हें न पढ़ने का अवकाश है और न उत्साह। इतने पर भी यह समाधान तो किसी न किसी प्रकार करना ही होगा। शिक्षा का वर्तमान अभाव भविष्य में भी बना रहे, यह सहन नहीं किया जा सकता। शरीर के लिए जितनी आवश्यकता भोजन की है, उतनी ही मन-मस्तिष्क के—व्यक्तित्व के विकास के लिए शिक्षा की है। इतने पर भी गुत्थी उलझी की उलझी ही रह जाती है। उत्साह की, साधनों की कमी इस दिशा में प्रमुख बाधा है फिर उस उपयोगिता की भी बात सोचनी पड़ेगी जो स्कूली शिक्षा प्राप्त कर लेने पर भी पूरी नहीं हो पाती। व्यावहारिक जीवन से संबंधित अनेकानेक पक्ष ऐसे हैं, जिन्हें वर्तमान शिक्षा प्रणाली में अनदेखा ही कर दिया गया है।

नौकरी न मिलने पर शिक्षित युवक क्या करे? इसके लिए शिल्प उद्योग का, कृषि, पशु-पालन का, ग्राम उद्योगों का समर्थ विकल्प शिक्षा के साथ जुड़ा रहना चाहिए था, पर उस हेतु लँगड़े-लूले, जहाँ-तहाँ ढाँचे ही खड़े हैं जिन्हें चिन्ह पूजा भर कहा जा सकता है। होना यह चाहिए कि यह विषय शिक्षा का अनिवार्य अंग बनकर रहें। उसके लिए गांधीजी की बुनियादी तालीम योजना से प्रकाश लिया जाए, जिसमें छात्रों को आर्थिक दृष्टि से स्वावलंबी बनाने की बात सोची गई।

विज्ञान, कला, भूगोल, राजनीति, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, आदि विषयों के निर्धारित कोर्स रटने की अपेक्षा यह अधिक आवश्यक है कि हर व्यक्ति शरीर विज्ञान और स्वास्थ्य संरक्षण के आवश्यक पक्षों को विस्तारपूर्वक समझे। इस आधार पर अपने और अपने परिवार की स्वास्थ्य रक्षा के आधार समझे और समझा सके। मानसिक दृष्टि से अधिकांश व्यक्ति अनगढ़, मूढ़ मान्यताओं से ग्रसित होते हैं। शिष्टता, नागरिकता और सामाजिकता के हर पक्ष को गंभीरतापूर्वक न समझ पाने के कारण उनकी स्थिति अविकसित मानस वालों जैसी बनी रहती है। चिंतन और व्यवहार में ऐसे तत्त्व भरे रहते हैं, जिनके कारण स्थिति अद्विक्षिप्तों जैसी, गँवार, अनगढ़ों, सनकियों, जैसी बनी रहती है। इस कमी को शिक्षा के साथ ही पूरा किया जाना चाहिए। मानसिक संतुलन, सही चिंतन और मनोविकारों से बच निकलने के लिए कारणों और निवारणों को विस्तारपूर्वक समझाया जाना चाहिए।

परिवार बनाकर लोग रहते तो हैं, पर यह नहीं जानते कि उस समुदाय के गुण, कर्म, स्वभाव की उत्कृष्टता कैसे बनाई और बढ़ाई जाए। परिवार की बहुमुखी स्थिति और प्रगति बनाए रहने के लिए क्या किया जाना चाहिए? मनुष्य सामुदायिक प्राणी है। समाज से प्रभाव ग्रहण भी करता है और उस पर छाप भी छोड़ता है। इसलिए समाज संपर्क का इस तथ्य को ध्यान में रखकर चलने की आवश्यकता है कि वातावरण में भरी हुई दुष्प्रवृत्तियों का निराकरण और सत्प्रवृत्तियों का संवर्द्धन साथ-साथ चलता रहे। पुस्तकीय अर्थशास्त्र अलग है और व्यावहारिक जीवन में अर्थ-संतुलन बनाए रहने वाला सुव्यवस्था क्रम अलग। हमारी शिक्षा में इन विषयों को विस्तृत स्थान अनिवार्य रूप से मिलना चाहिए। नारी विकास, शिशु-पालन, शिक्षा चयन, सहकार, स्वच्छता, शिष्टता जैसे विषय हमारी शिक्षा प्रणाली में इस प्रकार गुँथे हुए हों, शिक्षित व्यक्ति का व्यावहारिक ज्ञान ऐसा सर्वांगपूर्ण हो कि वह सरकारी, गैर-सरकारी,

व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक आदि सभी क्षेत्रों में उपलब्ध शिक्षा के आधार पर सुखी-समन्नत बन सके।

प्रौढ़ शिक्षा की आवश्यकता इतनी बड़ी है जिसे बाल शिक्षा की तुलना में अनेक गुनी विशद समझा जा सकता है। जीवन विज्ञान का व्यावहारिक ज्ञान भी इससे कम विस्तृत और महत्वपूर्ण नहीं है। इन दोनों के लिए देशव्यापी समाधान हेतु उससे कही अधिक साधन जुटाने की आवश्यकता है जितने कि सरकार द्वारा स्थापित स्कूलों में लगते हैं।

आवश्यकताओं की महत्ता और अनिवार्यता को देखते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि जन सहयोग से एक स्वतंत्र शिक्षण तंत्र खड़ा किया जाए, जो उन आवश्यकताओं की पूर्ति करे जो सरकारी पाठ्यक्रम में छूटे हुए हैं या चुंचु प्रवेश मात्र जितने हैं। यह समानांतर तंत्र अपना स्वतंत्र पाठ्यक्रम बनाए और कक्षाएँ ऐसे समय लगाएं, जिससे कि कार्य-व्यस्त लोग सुविधानुसार सम्मिलित होते रहें। इसे वयस्क शिक्षा में व्यावहारिक ज्ञान का समावेश समझा जा सकता है। इनकी संभावनाएँ भी बढ़ी हैं और साथ ही साधनों की आवश्यकताएँ भी।

समाज का हर काम सरकार पर अवलंबित नहीं है। भोजन, वस्त्र, व्यवसाय, विवाह-शादी, परिचर्या आदि अपनी सूझ-बूझ और साधनों से करते हैं। पारस्पारिक व्यवहार की नीति और प्रथा-परंपराओं को अपनाने में भी हमें अपने निजी साधन ही लगाने पड़ते हैं। सरकार उनके लिए कोई दबाव नहीं डालती। इसी प्रकार यह भी सोचे जाने की आवश्यकता है कि समग्र शिक्षा में जो पक्ष छूटे हुए हैं, उन्हें पूरा करने के लिए शिक्षा का एक समर्थ ढाँचा जन सहयोग से खड़ा किया जाए और उसे समर्थ तत्परता के साथ गतिशील एवं सफल बनाया जाए।



बड़ा नहीं-छोटा ही, पर सुनियोजित सरंजाम हो

खेती-बारी के लिए आवश्यक उपकरण एवं साधन हमें स्वयं ही जुटाने पड़ते हैं। विवाह-शादी का प्रबंध भी अपने निजी साधनों और प्रयासों पर निर्भर रहता है। कपड़े, मकान हारी-बीमारी, रसोई, प्रजनन, बचत जैसे क्रिया-कलापों में अपनी निजी की सूझ-बूझ प्रयत्नशीलता और साधन-सामग्री ही काम देती है। इसके लिए जिस-तिस से यत्किंचित सहायता भले ही मिल जाए, पर तथ्यतः जीवन के साथ जुड़े हुए इन अनेकानेक पक्षों की व्यवस्था बनाने का दायित्व हमें स्वयं ही वहन करना पड़ता है। इन्हीं मदों में एक समग्र शिक्षा को भी जोड़ना चाहिए और उसका समाधान मिल-जुलकर करना चाहिए।

सरकारी तंत्र भी जनता से प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष टैक्स वसूल करके ही चलता है। उस राशि को लोग इच्छा या अनिच्छा से देते ही हैं। हर किसी ने समझ लिया है कि सरकारी टैक्स देना आवश्यक है। उसे चुराने-छिपाने पर कड़े राजदंड का भागी बनना पड़ता है। इसलिए बिना ननुच किए उसे चुकाया एवं वसूल किया जाता रहता है। विवाह-शादियों में भी कम खरच नहीं पड़ता। वह राशि भी प्रायः उतनी ही बैठ जाती है, जितना कि सरकारी टैक्स चुकाना पड़ता है। अन्य कितने ही खरचे ऐसे हैं, जिनमें बड़ी राशि को येन-केन प्रकारेण व्यवस्था करनी ही पड़ती है। जन्म-मरण के

अवसर पर हर्ष एवं शोक मनाने के साथ खरचीले प्रीति भोज भी होते रहते हैं। हारी-बीमारी में चिकित्सा-परिचर्या, काम हर्ज होने जैसे बोझिल भार भी स्वयं ही वहन करने पड़ते हैं। तीर्थयात्रा, कथावार्ता आदि धर्मकृत्यों में भी खरच पड़ता ही रहता है। चोरी, मुकदमा आदि के अप्रत्याशित खरच भी कभी-कभी आ पड़ते हैं और उनके लिए भी कहीं न कहीं से किसी न किसी प्रकार प्रबंध करना ही पड़ता है। इन्हीं मदों में एक और जोड़ना चाहिए, वह है जन स्तर पर की जाने वाली समग्र शिक्षा की व्यवस्था।

जिस प्रकार अनेकों उदारचेता, भावनाशील व्यक्ति निजी धन खरच करके देवालय, धर्मशाला आदि बनाते हैं, जिस प्रकार कुछ लोग सार्वजनिक धन से कोई बड़े काम संपन्न करते हैं, उसके लिए चंदा उगाहते हैं, संचालन समिति बनाते हैं, उसी प्रकार हर क्षेत्र में गैर-सरकारी ऐसे शिक्षा संस्थान खड़े किए जा सकते हैं, जो सरकारी शिक्षा से छूटे हुए विषयों को छोटे बच्चों को ही नहीं, कार्यरत वयस्कों को भी उनकी सुविधा के समय पर पढ़ा सकें। इसे एक प्रकार से विकसित प्रौढ़ शिक्षा भी कहा जा सकता है। प्रचलित प्रौढ़ शिक्षा में साक्षरता को ही तथ्य माना गया है। न कुछ से तो कुछ अच्छा। निरक्षरों को साक्षर बना देना भी कम उत्साहवर्द्धक नहीं है। किंतु उसे कारण बनाना है तो उसे कुछ महीनों में समाप्त नहीं किया जा सकता, वरन् कई साल की पाठ्य पद्धति बनाकर चलना होगा, ताकि जीवनोपयोगी सभी विषयों का सुविस्तृत ज्ञान प्राप्त कर सकना संभव हो सके। इसे परिस्थितियों की विवशता में छोटा भी किया जा सकता है। ऐसा भी हो सकता है कि एक-एक विषय के अलग-अलग खंड हों और उन्हें एक-एक कदम बढ़ाते रहा जाए। ऐसा भी हो सकता है कि सभी आवश्यक विषयों का समावेश करते हुए क्रमशः अधिक गहरी जानकारी प्राप्त करते रहने में निरत रहा जाए। यह निर्णय लोकसुचि अथवा संस्थापकों की सूझ-बूझ के आधार पर हो सकता है। मूल

बात वह है कि यह प्रशिक्षण ढांचा किस प्रकार खड़ा किया जाए इसकी आधारशिला रखते हुए सरकारी शिक्षा से प्रतिद्वंद्विता करने या समानांतर उपक्रम चलाने की बात किसी को भी नहीं सोचनी चाहिए। यह पूरक निर्धारण है। जो छूटा हुआ है उसकी पूर्ति करना इसका उद्देश्य है। विशेषतया उन ९० प्रतिशत व्यक्तियों के लिए समग्र शिक्षा की व्यवस्था करना है, जो या तो निरक्षर है या स्वल्प शिक्षित। कार्य-व्यस्त नर-नारियों को उनकी सुविधा के समय उपयोगी ज्ञान प्रदान करना—इस प्रयास का आधारभूत लक्ष्य है। ऐसे प्रयत्न पिछले दिनों होते रहे हैं और एक सीमा तक सफल भी हुए हैं। गैर-सरकारी व्यवस्था के रूप में साहित्य सम्मेलन, प्रयाग महिला विद्यापीठ, आर्यवीर दल आदि ने अपने विशेष पाठ्यक्रम चलाए थे। उस हेतु पुस्तकें छापी, विद्यालय खोले और परीक्षा व्यवस्था की। वे कम लोकप्रिय नहीं हुई। उन दिनों के उनके प्रयासों को असफल कहा भी नहीं जा सकता। संस्कृत परीक्षाएँ पं० सातवलेकर के तत्त्वावधान में चलती थीं। कभी उनका बहुत प्रचलन और विस्तार था।

आर्य समाज ने गुरुकुलों की स्थापना इसी दृष्टि से हाथ में ली थी। उनके गैर-सरकारी कोर्स थे और परीक्षाएँ भी निजी ही होती थीं। गुरुकुल काँगड़ी, गुरुकुल वृदावन, गुरुकुल सासनी, जैसी अनेक संस्थाएँ ऐसी शिक्षा व्यवस्था जन सहयोग से, अपने बलबूते चलाती थीं। अब तो प्रवाह बदल चला। गुरुकुल भी सरकारी लाइन पर आ गए। आर्य विद्यालय ऐंग्लो वैदिक हो गए उसी को मान्यता और सहमति पर वही सरकारी पाठ्यक्रम पद्धति अपनाने लगे, मूलभूत स्वरूप तो नाममात्र का ही रहने लगा है। इस निराशा का एक कारण यह भी था कि उनके पीछे धार्मिक जुनून ही प्रधान था। उनमें वैसी सर्वांगपूर्ण पाठ्यक्रम पद्धति नहीं थी, जिसे पढ़ने के बाद शिक्षार्थी जीवन के हर पक्ष में समग्र प्रखरता प्राप्त कर सके और स्वालंबनपूर्वक स्वतंत्र जीवन बिता सके। कितनी ही संस्कृत पाठशालाएँ आज भी

चलती है, पर उनमें एक भाषा विशेष की जानकारी ही प्रधान रहती है। धर्मपक्ष का भी कुछ ज्ञान कराया जाता है।

उपर्युक्त प्रयत्नों के पीछे उद्देश्य भले ही यह रहा है कि शिक्षार्थियों के लिए वह विधि व्यवस्था जुटाई जाए जो सरकारी स्कूलों में पूरी नहीं हो पाती। इतने पर भी उनका चिंतन निर्धारण इस दिशा में नहीं बना कि केंद्रीय विद्यालय स्थापित करने तक सीमित न करके उसे सर्वजनीन कैसे बनाया जाए, पिछड़े देहातों तक उसे कैसे पहुँचाया जाए और सच्चे अर्थों में जीवन विज्ञान में शिक्षार्थियों को किस प्रकार निष्णात बनाया जाए? इसके लिए जहा-तहाँ छिटपुट केंद्र नमूने के रूप में तो बनाए जा सकते हैं। पर समस्या का समग्र समाधान तभी संभव है, जब वह व्यापक बने और व्यस्त वयस्कों की जीवन विज्ञान की, समाज विज्ञान की ऐसी शिक्षा का लक्ष्य रखें, जो पिछड़ेपन के हर पक्ष को बुहारती हो। प्रतिभा का, उत्कर्ष का हर पक्ष निखारती हो।

उपर्युक्त शिक्षा व्यवस्था प्रौढ़ पाठशाला स्तर पर चलनी चाहिए और जहाँ भी व्यवस्था बन पड़े, वहाँ से आरंभ करके हर गाँव तक पहुँचाने के लिए क्रमिक प्रयास चलना चाहिए। इसके लिए ऐसी पाठ्य पुस्तकें बनें—जो लड़कों को, लड़कियों को, महिलाओं को, युवकों को, गृहस्थों को, वयोवृद्धों को, उनकी विशेष समस्याओं के विशेष समाधान प्रस्तुत कर सकें। ये समाधान भी सामयिक, व्यावहारिक एवं क्रियान्वयन में सरल, संभव होने चाहिए। ऊँची आदर्शवादिता सुनने-कहने में तो लच्छेदार लगती है, पर उसका मनःस्थिति एवं परिस्थिति के साथ तालमेल नहीं बैठता। इसलिए उसे हृदयंगम कर सकना, व्यवहार में उतार सकना संभव नहीं हो पाता। वस्तुस्थिति समझी जानी चाहिए और चेष्टा इस स्तर की करनी चाहिए जो जनसाधारण के लिए सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से सरलतापूर्वक अपनाए जाने योग्य हो। उसके पीछे तर्क, तथ्य, प्रमाण एवं उदाहरण इतने

प्रबल होने चाहिए, जो हर विचारशील को प्रभावित एवं सहमत कर सकें। ऐसी पाठ्य पुस्तकें यदि प्रस्तुत की जा सकें, तो उन्हें पाठशाला के रूप में तो पढ़ाया ही जा सकता है, अन्यथा अवकाश के दिन उन्हें पढ़ाने-सुनाने प्रश्नोत्तरी के आधार पर हृदयंगम करने के लिए सत्संग स्तर का प्रयत्न तो तनिक सा प्रयास करने पर क्रम व्यवस्था का ढर्म घुमा सकता है।

पाठ्यक्रम बनने के साथ ही अध्यापकों की आवश्यकता पड़ेगी। वे वेतन देकर नहीं रखे जा सकते। इतने व्यापक कार्यक्रम के लिए वेतनभोगी शिक्षक जुटाने पर तो करोड़ों-अरबों की धनराशि अपेक्षित होगी। इसके लिए सेवानिवृत्त शिक्षित व्यक्तियों को विद्याभृण चुकाने के रूप में निःशुल्क सेवा के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। यह प्राचीन काल की वानप्रस्थ परंपरा जैसा उपक्रम है। आवश्यक नहीं कि निवृत्त शिक्षित ही इस क्षेत्र में उतरें। कार्यव्यस्त सेवाभावी भी इस हेतु न्यनतम दो घंटे का समय नित्य देने लगें, तो इस योजना के कार्यान्वयन में आवश्यक अध्यापकों की नियुक्ति वाली व्यवस्था पूरी हो सकती है। शिक्षा विस्तार के लिए समयदान का आंदोलन उसी उत्साह के साथ चलाया जाना चाहिए, जैसे कि पिछले दिनों सत्याग्रह आंदोलन, खादी आंदोलन, भूदान आंदोलन आदि चले थे और उस आधार पर अनेकों कार्यकर्ता सेवा क्षेत्र में उतरे थे। उनके सहयोग से गोवर्धन उठाने और समुद्र सेतु बनाने जैसे भारी भरकम संकल्प पूरे हुए थे। समग्र शिक्षा प्रसार को यदि जन-आंदोलन बनाया जाता है, तो शिक्षितों को विद्याभृण चुकाने के लिए एक आवेश उत्पन्न करना होगा। इसके लिए प्रचंड आंदोलनों जैसी पृष्ठभूमि बनाई जाए। उसके लिए लेखनी एवं वाणी का भरपूर प्रयोग किया जाए। इस समुद्र मंथन से अनेकों नररत्न उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति हेतु निकल सकते हैं।

आवश्यक ही नहीं कि इस प्रयोजन के लिए निजी नई इमारत बनाई जाए। किसी का खाली कमरा, आँगन, चौपाल, देवालय,

वृक्षों का झुरमुट जैसा कोई स्थान इसके लिए चुना जा सकता है। जहाँ ऐसी जगह नहीं मिल पाए, वहाँ स्थान किराये पर भी लिया जा सकता है और उसमें पारियाँ अदल-बदलकर कई कक्षाओं का संचालन किया जा सकता है।

अध्यापकों का समयदान, साधु-ब्राह्मण की वानप्रस्थ परंपरा को नए सिरे से हवा बनकर उलझ किया जा सकता है। इस देश में उदारता, धर्मपरायणता, पुण्य परमार्थ के प्रति लगाव प्रसिद्ध है। इन दिनों यह दिशा भ्रम से संत्रस्त हो गया है एवं भटकाव में उलझा गया है। निहित स्वार्थ उसका शोषण कर रहे हैं, भ्रम-जंजालों में उलझा रहे हैं। इसलिए वह भाव-संवेदना और धन-संपदा निरर्थक पाखंडों में गल रही है। यदि यथार्थता को समझने-समझाने के लिए नए सिरें से शंखनाद किया जाए, तो हर भावनाशील को यह अनुभव करने का अवसर मिलेगा कि 'शिक्षा' ही सबसे बढ़कर धर्मकृत्य है। उससे दाता और ग्रहीता दोनों का कल्याण होता है।

चूँकि यह प्रक्रिया सर्वथा नई है, इसलिए उसके उपाध्याय, अध्यापकों को प्रशिक्षण पद्धति सिखाने की केंद्रीय व्यवस्था भी होनी चाहिए। ऐसे प्रयास स्वतंत्रता आंदोलन के दिनों में कलकत्ता के नेशनल कॉलेज, वृदावन के प्रेम महाविद्यालय, बल्लभ नगर की गुजरात विद्यापीठ, वाराणसी की काशी विद्यापीठ, हरिद्वार की गुरुकुल कांगड़ी आदि संस्थानों द्वारा किए जा चुके हैं। उनमें पढ़कर निकले हुए छात्रों ने अपने समय में आश्चर्यचकित कर देने जैसा परिणाम उपस्थित कर दिखाया था। अभी भी शांतिकुंज, हरिद्वार में उसी पुण्य-प्रक्रिया का प्राण-प्रत्यावर्तन हो रहा है। उसे देख-समझकर ऐसे अनेक विद्यापीठ बनाए जाएँ, तो निश्चित ही इस पिछड़े देश का कायाकल्प हो सकता है।



नैतिकता का शिक्षण, परिकर के माध्यम से

राजा एक राज्य का शासन करता है। पुरोहित का एक गाँव यजमान होता है। एक गाँव का चिंतन, चरित्र और व्यवहार परिष्कृत करने में एक भावनाशील अध्यापक ऐसी शानदार भूमिका निभा सकता है, जिसे कायाकल्प के समतुल्य कहा जा सके। शर्त एक ही है कि उसे अपने पद के गौरव का भान हो और सच्चे मन से अपना सारा समय उसी कार्य को उच्चस्तरीय मनोविनोद मानकर लगाए रह सके, समय की कमी का प्रश्न नहीं है। प्रश्न भावना की उत्कृष्टता में कमी होने का है। यह कार्य वेतन के लिए काम करने वाले, ऊपरी आमदनी का अवसर तलाश करते रहने वाले श्रमिकों का नहीं है।

पिछले दिनों अच्छे नंबरों से उत्तीर्ण होना ही छात्रों और अध्यापकों की प्रशंसा का केंद्र माना जाता था। अब नई समस्याएँ सामने आने से इस सफलता के संबंध में नए सिरे से सोचा जाने लगा है। शिक्षितों की बेरोजगारी से उत्पन्न हुआ असंतोष गुंडागीरी की ओर मुड़ता है। उत्तीर्ण होने से पूर्व ही वह भयानक आशंका उन्हें संत्रस्त करने लगती है और नशेबाजी से लेकर अपराध स्तर की गुंडागर्दी इस समुदाय में फैलने लगी है। नकल करके डराकर लोभ देकर पास होना तो आम बात हो गई है। ऐसी दशा में उत्तीर्ण हुए और काम पर चिपकाए हुए लोग भी अयोग्यता के कारण अपना काम सही तरीके से पूरा नहीं कर पाते और जिस भ्रष्टाचार के सहारे पास हुए थे, उसे पूरे समाज में फैला देने के अवसर तलाशते रहते हैं। ऐसी बहुसंख्यक घटनाओं ने मूर्ढन्यों

का ध्यान इस ओर खींचा है कि विद्यार्थियों को नैतिक शिक्षा भी दी जाए और इसके लिए उपयुक्त पाठ्यक्रम बनें। यह प्रसन्नता की बात है। यह पहले से ही समझा और किया गया होता तो और भी अच्छा होता। नैतिक शिक्षा के लिए पाठ्य पुस्तकें बनें और उनकी कक्षाएँ चलें, यह हर दृष्टि से प्रशंसनीय है। पर यदि इसे वस्तुतः वैसा बनाना हो तो पुस्तकें छापने के साथ-साथ अध्यापकों को भी उसी ढाँचे में ढलना पड़ेगा, क्योंकि चरित्र का जहाँ तक संबंध है, वह चरित्रवानों से ही उपलब्ध हो सकता है। मिट्टी के खिलौना से लेकर पुरजे और आभूषण तक साँचे में ढाले जाते हैं। साँचे यदि सही हैं, तो उनमें ढली हुई वस्तु भी बढ़िया बनेगी।

अध्यापकों के शिक्षण में यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि उन्हें सच्चे अर्थों में राष्ट्र निर्माता बनाना है। बच्चों को पाठ पढ़ाकर उत्तीर्ण करा देना भर उनका काम नहीं है, वरन् जिस क्षेत्र में उन्हें काम करना है, उस समस्त परिकर को नैतिक शिक्षा देनी है। अन्यथा अनैतिक वातावरण में समय गुजारने वाले बच्चे स्कूली नैतिक शिक्षा को एक औपचारिकता मात्र मानकर भुला देंगे और जैसे थे वैसे ही बने रहेंगे।

अध्यापकों की ट्रेनिंग नैतिक स्तर की हो, जिसमें वे अपना चरित्र ऊँचा रखने का अभ्यास करें और इस स्तर तक पहुँचें कि उनके संपर्क में आने वाले छात्र भी उनका रहन-सहन, आचार-व्यवहार देखकर अनायास प्रभावित हों और पुस्तकों में पढ़ाई जाने वाली बातों को यथार्थ मान सकें। इसके लिए उन्हें उत्तीर्ण करने और काम सोंपने से पूर्व यह भली-भाँति जाँच लिया जाए कि उन्होंने अपना वास्तविक कर्तव्य और उत्तरदायित्व समझा या नहीं, उसमें प्रवीण पारंगत हुए या नहीं।

दुर्गुणों से बचे रहने के अतिरिक्त सेवा भावना और तत्परता अध्यापक के प्रधान गुण होने चाहिए और इसकी जाँच-पड़ताल गुप्तचर स्तर पर निरंतर निगाह रखते हुए की जानी चाहिए। जो इस

आदर्शवादिता में अनुत्तीर्ण हों उन्हें तो पूरी तरह अयोग्य ठहरा दिया जाए। अनुग्रह अंक भले ही किसी अन्य विषय में कितने ही दे दिए जाएँ। उनकी पूर्ति तो वे पीछे भी कर सकते हैं। पर आदतों का बदलना यदि इस कठिन परीक्षा काल में न हो सके, तो भविष्य के लिए उनसे क्या आशा की जा सकती है? एक सद्गृहस्थ अनेक तरह की व्यवस्था बुद्धि से मिला सकता है, पर यदि धीमा काम का प्रभाव उन पर भी आया हो, तो हर स्कूल से जुड़ा हुआ एक जन-संपर्क अधिकारी अलग से नियुक्त किया जा सकता है, जो बच्चे के अभिभावकों से संपर्क रखे और यह सिखाए कि निजी जीवन को सफल तथा बच्चों का भविष्य उज्ज्वल बनाने के लिए किस प्रकार सोचना चाहिए और किस प्रकार क्या अस्वीकार तथा अंगीकार कराना चाहिए। सरकार ने ग्रामसेवकों की नियुक्ति की है। उनके जिम्मे कृषि उद्योगों संबंधी आर्थिक बातें ही हैं। यहाँ उससे भिन्न प्रकार की नियुक्ति और जिम्मेदारी की चर्चा की गई है। वे प्रौढ़ पाठशाला, वृक्षारोपण, परिवार नियोजन, कुरीतियाँ उन्मूलन आदि के कार्यों को हाथ में लें, ऊँच-नीच, परदा प्रथा, अंधविश्वास, कुरीति समुदाय से लोहा लें। यह भावना स्तर के ग्रामसेवक अध्यापक होंगे। इन्हें हर स्कूल के साथ एक पृथक से भी रखा जा सकता है जो निरंतर इसी स्तर का ताना-बाना बुनता रहे और सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्द्धन में अपना कौशल दिखाता रहे।

कितने ही घर-परिवारों की स्थिति अच्छी नहीं होती, उनमें सद्गुणों की दृष्टि से अनेक कमियाँ पाई जाती हैं। ऐसी दशा में उपयोगी यह होगा कि उन्हें विद्यालय के छात्रावास में रखा जाए और उसका प्रबंध ऐसे हाथों में हो जो अवकाश के समय भरपूर मनोरंजन कराते रहें, उसी के साथ सत्प्रवृत्तियों का बीजारोपण कराते रहें। छात्रावास संचालक को सच्चे अर्थों में सुयोग्य अभिभावक होना चाहिए, जो अपने छात्रों को हँसते-हँसाता व्यस्त भी रखे। उस व्यवस्था में वे विनोद अनुभव करें और सद्गुणों का अभ्यास करें।

आजकल छात्रावास बहुत महँगे हो गए हैं। उनसे लाभ संपन्न लोग तो उठा लेते हैं, पर गरीबों को किफायत का ध्यान रखते हुए निजी प्रबंध करना पड़ता है, उसमें उन्हें मनचाही छूट रहती है और कुमार्ग अपनाने का अधिक अवसर रहता है। अच्छा हो बोर्डिंग देहाती स्तर के अनुरूप हों और उनमें लागत कम आवे। बीच के ठेकेदारों को मुनाफा न कमाने दिया जाए, संभव हो तो सरकार उसमें कुछ उसी प्रकार दे जैसे कि मिलिट्री में है। नैतिक शिक्षा का यह एक महत्वपूर्ण आधार है कि जो नैतिक शिक्षा के नाम पर पुस्तकों में पढ़ा हो, उसे व्यवहार में उतारने की प्रत्यक्ष शिक्षा छात्रावासों में मिले और जब वे लड़के छुट्टियों में घर जाएँ, तो घर वालों के दुरुण न सीखें, वरन् अच्छाइयों का प्रदर्शन करके अपना तथा अपने विद्यालय का गौरव बढ़ाएँ। समतामय जीवनयापन करने के लिए इन छात्रावासों में ढले हुए बालक कहीं अधिक उपयुक्त हो सकते हैं।

अपना काम अपने हाथ करने, नौकरों का सहारा न तकने की वृत्ति स्वावलंबन की दृष्टि से अति उपयोगी है। श्रमशीलता, मितव्ययता, शिष्टाचार, सुव्यवस्था, सहकारिता जैसे गुण ही किसी व्यक्ति के भावी जीवन को समुन्नत बनाने में काम आते हैं। छात्रावास में इन गुणों का बीजारोपण हो तो बड़े होने पर बड़े कामों में भी उनके उपयोग की आदत बनी रहती है और छोटी परिस्थितियाँ पैदा होने पर भी महान बनने का अवसर प्रदान करती हैं।

अनुशासन सबसे महत्वपूर्ण गुण है, वही आगे चलकर सुव्यवस्था के रूप में विकसित होता है। जो अपनी, अपने समाज की, कार्य की, साथियों की सुव्यवस्था बना सकता है, समझना चाहिए कि उसका भविष्य उन्नत है। स्काउटिंग आंदोलन का आधार उसी स्तर की योग्यता बढ़ाने के लिए किया गया था। उन पुरानी बातों को अब हमें नवीन की तरह अपनाना चाहिए एवं वातावरण के माध्यम से शिक्षण प्रक्रिया का अवलंबन लेना चाहिए।



अध्यापकों एवं अभिभावकों की बाल विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका

शिक्षा के दो पहलू हैं—एक कौशल का विकास, दूसरा व्यक्तित्व का परिष्कार। कौशल के विकास में कोई भी प्रशिक्षित और प्रतिभाशाली अध्यापक सफल हो सकता है। कृषि, शिल्प, पशु-पालन, गृह उद्योग, संगीत, कला, व्यायाम आदि विषय कौशल से संबंधित हैं। इनके लिए क्रिया-कुशल अध्यापक और आवश्यक उपकरणों को जुटा लेने भर से काम चल सकता है। किंतु कठिनाई शिक्षा के संदर्भ के संबंध में है, जो बच्चों को सद्गुणी और सुसंस्कारी बनाती है। इसके लिए कितने ही उपाय अपनाने पड़ते हैं। जिनमें पहला है—अभिभावक का निजी चरित्र और परिवार का वातावरण, क्योंकि उसी क्षेत्र में बालकों को अधिक समय तक रहना होता है। घनिष्ठता भी उन्हीं के साथ जुड़ती है और वह उनके क्रिया-कलापों को नकल करने का प्रयास करता है। सुसंस्कारी परिवार में पले और बुद्धिमान अभिभावकों द्वारा पैनी दृष्टि से निखारे गए बालक सद्गुणी ही बनते हैं और सज्जनता की परंपरा को अपने स्वभाव का अंग बना लेते हैं। उन्हें अलग से शिष्टाचार पढ़ाने की कोई बड़ी आवश्यकता नहीं पड़ती।

उचित यह है जिन्हें बालकों के प्रति अपने उत्तरदायित्व का ज्ञान है, जो उन्हें सुयोग्य नागरिक और देश के भविष्य में योगदान दे सकने योग्य बनाना चाहते हैं, वे संतानोत्पादन से पूर्व उनके विकास का उपयुक्त वातावरण बनाने हेतु उपयुक्त साधन जुटाने का प्रयत्न

करें। यह प्रयत्न इस रूप में सफल हो सकता है कि विशेषतया माता और सामान्यतया घर के अन्य वे सभी लोग जो बच्चे के संपर्क में अधिक आते हैं, अपने को इस स्तर का सद्गुणी बनाएँ, जिनकी नकल करते हुए बालक स्वयमेव सत्प्रवृत्तियों का अभ्यासी बन सके।

वस्तुतः शिक्षा का आरंभ अभिभावकों में होना चाहिए। उनके लिए पाठ्य-पुस्तकें बननी चाहिए और यदि संभव हो, तो उन्हें भी अपने ढंग का ऐसा प्रशिक्षण प्राप्त करना चाहिए जैसा कि स्कूलों में पढ़ाने वाले अध्यापकों को अध्यापन प्रक्रिया की विधि-व्यवस्था सीखनी पड़ती है।

आँखें मूँदकर काम वासना की पूर्ति के लिए अंधाधुंध बच्चे उत्पन्न करते चलना, पत्नी के स्वास्थ्य को और बच्चों के भविष्य को बिगाड़ने के बराबर है। बच्चे प्यार के भूखे होते हैं, उनके अंतरंग में जो कुछ बिठाया जाना हो, प्यार के साथ बिठाया जाना ही संभव है। इसके लिए माता के पास समय होना चाहिए।

बच्चों की समुचित देखभाल करने के लिए यह आवश्यक है कि बड़ा बच्चा किसी कदर अपने को संभालने की स्थिति तक पहुँच जाए, तब नए बच्चे का आगमन हो। यह अंतर तीन से पाँच वर्ष तक का होना चाहिए, अन्यथा जल्दी-जल्दी जन्मे बालकों से किसी की ओर भी पूरी तरह ध्यान दे सकना संभव न होगा। हर बच्चे के हिस्से में अभिभावकों का थोड़ा-सा प्यार, थोड़ा-सा ध्यान और थोड़ा-सा साधन मात्र लग सकेगा। इससे उनमें से प्रत्येक को असंतोष बना रहेगा और उपेक्षित मानता रहेगा।

बच्चे देखने में छोटे लगते हैं, पर जीवन के आरंभिक दिनों में उनकी गतिशीलता और ग्रहण शक्ति असाधारण होती है। यदि ऐसा न होता, तो वे नौ महीने जैसे स्वल्प काल में अपना शरीर कैसे बना लेते और वंश-परंपरा तथा जननी की मनःस्थिति का इतना अधिक प्रभाव कैसे ग्रहण कर लेते?

छोटी आयु के बच्चे स्कूल जाने से पहले खेल-खिलाने में, कहानियाँ सुनने में, साथियों के साथ मन बहलाने में अपना समय बिताते हैं। इन प्रसंगों का स्तर गया-गुजरा न हो, सुरुचि को बढ़ाने वाला हो ऐसा प्रबंध किया जाए। उसके आहार का विशेष रूप से ध्यान रखा जाए। उनकी पाचन शक्ति को ध्यान में रखते हुए बड़ों की तुलना में आहार की भिन्नता रहनी चाहिए। भोजन का समय एवं मात्रा भी उनके अनुरूप रखनी चाहिए। लाड़-प्यार में साथ खिलाने की बात बच्चों का पेट और स्वास्थ्य खराब करती है। स्वच्छता के संस्कार आरंभ में ही डाले जाने चाहिए। शिष्टाचार का प्रशिक्षण आरंभिक दिनों से ही देना आरंभ कर देना चाहिए।

इसके बाद घर के लोगों का कर्तव्य है कि स्कूल में भरती कर देना ही सब कुछ न समझें। पढ़ाई कितनी सुव्यवस्था और कड़ाई से होती है, मात्र इतना ही न देखें; वरन् इस बात पर भी अधिक ध्यान दें कि अध्यापकगण प्रकारांतर से बाल व्यक्तित्व के विकास में अभिभावकों जैसी सतर्कता, आत्मीयता और दिलचस्पी लेने की स्थिति में है या नहीं। स्कूल के वातावरण में सत्प्रवृत्तियों का समावेश रख पा रहे हैं या नहीं? उनका व्यक्तित्व कोमल मन वाले बालकों पर उपयोगी छाप छोड़ने जैसा है या नहीं। बच्चों के पारस्परिक संबंध कैसे चलते हैं? भीतर कोई दुष्प्रवृत्तियाँ तो नहीं पनप रहीं हैं।

अच्छा हो अभिभावकों और अध्यापकों की विचारगोष्ठियाँ समय-समय पर होती रहें और न केवल एक बच्चे के संबंध में वरन् समूचे स्कूल को एक परिवार समझते हुए उसमें सुसंस्कारिता की दृष्टि से विचार किया जाता रहे। बच्चों में जो अच्छाइयाँ विकसित हो रही हों उन्हें और अधिक प्रोत्साहित करने के लिए अभिभावक और अध्यापक समान रूप से प्रयत्न करें। दोष-दुर्गुण दिखाई पड़ें, तो उन्हें सुधारने के प्रयास दोनों ही ओर से चलें।

स्कूली समय विभाजन में ऐसी गुंजाइश अवश्य रखनी चाहिए, जिनमें अलग-अलग गुटों में या सामूहिक रूप से अध्यापकों और अभिभावकों का मिलन तथा विचार-विनिमय होता रहे। देखा गया है कि इस प्रकार की परंपरा बहुत कम विद्यालयों में है। इतने आवश्यक विषय की नितांत उपेक्षा नहीं होनी चाहिए।

आयु बढ़ने के साथ-साथ यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि कुसंग में बैठने या बुरी लतें सीखने का सिलसिला तो नहीं चल पड़ा। किशोर अवस्था इस संदर्भ में विशेष ध्यान देने योग्य है। नए खून में उत्साह बहुत होता है। जोश की, महत्वाकांक्षाओं की, साहस प्रदर्शन की उत्कंठा बढ़ती है। यदि इन दिनों दुर्भाग्य से कुसंग की दिशा में पैर उठने लगे, तो उसका परिणाम आरंभ में तो परिलक्षित नहीं होता, पर बड़े होने पर जब बुरी आदतों का अभ्यास परिपक्व हो जाता है, तो उन्हें छुड़ाना कठिन पड़ता है। कई बार बच्चों में किसी बहाने घर वालों से पैसे प्राप्त करके, या चोरी करके बीड़ी, सिगरेट, जुआ, आवारागदी में सैर-सपाटे करना आदि आदतों का चस्का पड़ जाता है। यही आदतें बड़े होने पर व्यक्तित्व को कुसंस्कारी बना देती हैं। इसलिए बच्चों को खेलने आदि की उपयुक्त छूट देते हुए भी यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि कहीं बच्चे पर कुसंग की छाया तो नहीं पड़ने लगी। गलतियों को कच्ची आयु में सुधार देना सरल पड़ता है। पर जब वे बड़े हो जाते हैं, तो फिर पकी लकड़ी को सीधा करना कठिन होता है।

पाठ्य पुस्तकों में जीवन कला के हर पक्ष पर प्रकाश डालने वाले अध्याय होने चाहिए। शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, पारिवारिक, सामाजिक आदि क्षेत्रों की जिन समस्याओं का मनुष्य को सामना करना पड़ता है, उनके उत्तार-चढ़ावों के स्वरूप और समाधान से शिक्षार्थियों को अवगत कराया जाना चाहिए। आज की परिस्थितियों में अवांछनीयताओं का, अंधविश्वासों का, कुरीतियों का बहुत

प्रचलन है। उनकी हानियाँ समझ सकने योग्य छात्रों के/मस्तिष्क का विकास हो सके, ऐसा पाठ्यक्रम शिक्षा पद्धति में सम्मिलित रहना चाहिए। इसमें किसी धर्म संप्रदाय की चर्चा करने की आवश्यकता नहीं है। यह मार्गदर्शन मानवता के साथ जुड़ी हुई आदर्शवादिता को तर्क, तथ्य, प्रमाण और उदाहरण के आधार पर ही छात्रों की मान्यताओं में उतारा जा सकता है।



सदृशान के लिए स्वाध्याय अत्यंत आवश्यक

जीवन विज्ञान के क्षेत्र में पढ़े और बिना पढ़े, शहरी और देहाती सभी वर्ग के लोग एक प्रकार से अनाड़ी स्तर के हैं। अपने-अपने व्यवसाय के संबंध में कोई कितना ही जानकार क्यों न हो, किसी ने धर्म चर्चा कितनी ही कही-सुनी हो, परंतु चिंतन, चरित्र और व्यवहार में उत्कृष्टता का समावेश करते हुए सर्वतोमुखी प्रगति की दिशा में चल पड़ने के लिए आवश्यक अनुभव की दृष्टि से प्रायः सभी शून्य हैं। जिन्हें इस प्रकार का अनुभव, अध्यास हो ऐसे कोई बिरले ही होते हैं। उनकी संख्या विशाल जन समुदाय को देखते हुए नगण्य, आटे में नमक के बराबर ही दीख पड़ती है। इसलिए संजीवनी विद्या के क्षेत्र में हर स्तर के व्यक्ति को नए सिरे से ही प्रवेश करना पड़ेगा। नया ककहरा पढ़ना पड़ेगा। किंतु इतना निश्चित है कि जो इस कला में प्रवीण बन सकेगा उसके व्यक्तित्व का असाधारण विकास होगा। हर क्षेत्र की सफलताएँ और विभूतियाँ उसके पीछे-पीछे फिरती दिखाई देंगी। यह नकद धर्म है, जिसका समुचित प्रतिफल हाथोंहाथ मिलता है।

इस निमित्त प्रौढ़ पाठशाला स्तर की शिक्षण संस्थाएँ गाँव-गाँव, मुहल्ले-मुहल्ले स्थापित करने की आवश्यकता पर जन-साधारण का विशेषतया लोकसेवा में रस लेने वालों, उसके लिए सर्वोत्तम पक्ष दूँढ़ने वालों को जोर देते हुए बताया जा रहा है कि वे अन्य कार्यों को गौण समझें और जीवन शिक्षा को व्यापक बनाने के

लिए सर्वतोभावेन प्रयत्न करें। यदि यह सूझ पड़ा और प्रयास चल पड़ा, तो समझना चाहिए कि उलझी हुई समस्त समस्याओं का समाधान मिल गया। सर्वतोमुखी प्रगति का द्वार खुल गया।

पाठशालाओं का एक अतिरिक्त पक्ष भी है। निर्धारित विषय की पुस्तकों के पुस्तकालय का संचालन। सभी पाठशाला की पंक्ति में बैठना स्वीकार नहीं करते, उन्हें इसमें अपनी हेठी लगती है। विशेषतया शिक्षितों में इस प्रकार की अहंमन्यता विशेष रूप से उभरी होती है। वे बहुत पढ़े होने का अभिमान करते हैं, पर यह भूल जाते हैं कि संजीवनी विद्या की महत्ता न तो भली प्रकार समझी गई है और न इस कमी की पूर्ति के लिए कोई कहने लायक चेष्टा हुई है। बात इस सीमा तक बढ़ गई है कि जीवन विज्ञान के अनेकानेक पक्षों पर तात्त्विक प्रकाश डालने वाले साहित्य तक का अभाव है।

पुस्तक विक्रेताओं और प्रकाशकों की कमी नहीं, पर क्रमबद्ध जीवन साहित्य बहुत ढूँढ़ने पर जहाँ-तहाँ छिटपुट रूप में ही मिलता है। फिर विषय भी रुखा है। जिन्हे जीवन संपदा के मूल्यांकन कर सकने का अवसर नहीं मिला, वे जीवन विद्या को ही क्यों महत्त्व देने लगे? क्यों उस विषय का साहित्य खोजने में रुचि दिखाने लगे? जब ग्राहक ही न हो तो प्रकाशक क्यों छापे? लेखक क्यों लिखें? विक्रेता क्यों अपनी जगह, घर और पूँजी फँसाए? ऐसी दशा में यह नई कठिनाई उपस्थित होती हैं कि शिक्षितों को घर बैठे ऐसा साहित्य उपलब्ध करने की प्रक्रिया कैसे संपन्न हो? जो शिक्षार्थियों की पंक्ति में नहीं बैठना चाहते, उनके लिए यही एक मार्ग विशेष रह जाता है कि घर बैठे सुविधा के समय पर जीवन साहित्य का स्वाध्याय करें। पर इसके लिए साहित्य कहाँ से आए? अरुचि को अभिरुचि में कैसे परिवर्तित किया जाए?

इस समस्या का समाधान एक ही है कि पाठशालाएँ स्थापित करने की तरह हर जगह पुस्तकालय स्थापित किए और चलाए जाएँ, शिक्षितों को घर बैठे लाभ देने का यही उपाय है। जो छात्र

स्कूल में नहीं जाते उनके लिए घर पर ट्यूटर लगाया जाता है। यही व्यवस्था उन तथाकथित शिक्षितों के लिए की जानी चाहिए, जिन्होंने उच्च कक्षाएँ तो उत्तीर्ण की हैं, पर जीवन विकास की दिशा में न उन्होंने कुछ सीखा और न किसी ने उन्हें सिखाया।

कहा जा चुका है कि पाठशालाओं के अतिरिक्त जीवन कला के पुस्तकालयों की और स्थापना होनी चाहिए एवं उनके द्वारा शिक्षितों को घर बैठे स्वाध्याय की सुविधा प्राप्त करने की व्यवस्था की जानी चाहिए। इस संदर्भ में भी एक कठिनाई पुस्तकों के अभाव की पूर्ति करना ही नहीं, वरन् यह भी है कि तदविषयक अरुचि का निराकरण कैसे किया जाए? लोग चटपटी, मनोरंजक, कुतूहलद्वारक सामग्री पढ़ने के आदी हैं। वे उसे एक विनोद-मनोरंजन मात्र मानते हैं और खाली समय को काटने के लिए, उदासी को विनोद में परिवर्तित करने के लिए पुस्तकों पर हाथ डालते हैं। पत्र-पत्रिकाएँ खरीदते और पढ़ते हैं। उनकी पठन-रुचि इसी सीमा तक पहुँचकर समाप्त हो जाती है।

छोटे बच्चे जब स्कूल जाने में आनाकानी करते हैं, तो उन्हें कई प्रकार के प्रलोभन देते हैं। जेब खरच देना, स्कूल में मनोरंजन का, खेलकूद का, नाश्ते का प्रबंध करना ऐसा ही प्रलोभन है, जो अरुचि को उत्साह में बदलता है और बच्चे आनाकानी छोड़कर स्कूल जाने लगते हैं। यही व्यवस्था उन शिक्षित वयस्कों के लिए की जानी चाहिए, जो न तो जीवन साहित्य के उपयोग को समझते हैं और न उसे पढ़ने के अभ्यस्त हैं। ऐसी दशा में उनकी अरुचि और उपेक्षा सहज समझ में आती है।

यों कठिनाई तो अशिक्षितों को शिक्षित बनाने में, सहमत करने के संदर्भ में भी है, पर शिक्षितों की अहंमन्यता को देखते हुए जीवन साहित्य का अवगाहन करने में और भी अधिक कठिनाई है। अशिक्षित सोचते हैं कि हमें क्या किसी की नौकरी करनी है, जो पढ़ें। वे पढ़ने का लाभ नौकरी मिलना भर सोचते

हैं। इसलिए बच्चों में विशेषतया लड़कियों और महिलाओं में पढ़ने का उत्साह नहीं उभरने देते। इसलिए शिक्षा का प्रबंध कर दिए जाने पर इन अशिक्षितों की उपेक्षा को देखते हुए उन्हें घेर-बघेरकर लाना कठिन पड़ता है। जनजातियों के लिए कितनी ही सरकारी पाठशालाएँ खुली हैं, पर वे चलती नहीं। खाना पूर्ति होती रहती है। यही बात प्रायः सभी अशिक्षितों पर लागू होती है। उन्हें सहमत करना टेढ़ी खीर है। जो इस प्रयास में सफल हो जाते हैं, वे पिछड़ों को उभारने में सफल भूमिका निभाते हैं। घुमा-फिराकर यही बात शिक्षितों को सत्साहित्य नियमित रूप से गंभीरतापूर्वक पढ़ने के लिए सहमत करने के संबंध में भी है, वे सहज तैयार नहीं होते। उनके घर बैठे बिना मूल्य साहित्य देते रहने का क्रम बनाया जाए, तो भी वे अनख-आलस दिखाते हैं। बिना पढ़े किसी कोने में रख देते हैं और जब वापस माँगने जाया जाता है, तो बिना पढ़ी स्थिति में लौटा देते हैं। इस अरुचि को दूर करना प्रथम कार्य है। इसके बाद ही पाठशाला या पुस्तकालय उस प्रयोजन की पूर्ति कर पाते हैं, जिसके लिए प्रयत्नपूर्वक उनकी स्थापना की गई थी।

इस संबंध में धर्मशास्त्र वाले चतुर हैं। वे किसी कर्मकाण्ड को कराने से पहले उसका सुविस्तृत माहात्म्य बताते हैं, फलश्रुति सुनाते हैं। जब श्रवणकर्ता लाभों के लिए ललचाने लगता है, तब क्रियाकृत्य करने में तत्पर कर सकना सरल हो जाता है। शिक्षा के संबंध में भी यही बात है। वह चाहे पाठशाला के रूप में दी जाए या स्वाध्याय उपक्रम थोपने का प्रयत्न किया जाए। हर हालत में सर्वप्रथम उनकी सुविस्तृत फलश्रुति समझानी पड़ती है। वंचित रहने की हानियों और अपनाने पर मिल सकने वाले लाभ को तर्क, तथ्य, प्रमाण, उदाहरण आदि के माध्यम से संबद्ध व्यक्तियों को इस प्रकार समझाना पड़ता है कि वे ललचाने लगें और अपनाने के लिए उत्सुकता प्रकट करने लगें।

जिसकी महत्ता एवं आवश्यकता समझी जाती है, उसे पूरी कीमत चुकाकर खरीदा जाता है। पर जिस संबंध में उत्सुकता नहीं होती, उस संबंध में मुफ्त लेना भी भारी पड़ता है। समझा जाता है कि हमारे ऊपर कोई भार लादा जा रहा है। इस उलटे चिंतन से खिन्न नहीं होना चाहिए, निराश भी नहीं, वरन् निरंतर पीछे लगे रहने और कभी न कभी उत्साह जगने की आशा सँजोए रहनी चाहिए। जिन दिनों चाय का प्रचलन हुआ ही था, कोई उसे न पहचानता था, न पीता था। पर जब प्रचारकों ने घर-घर जा जाकर उसे मुफ्त पिलाना और गुण बखानना प्रारंभ कर दिया, तो लोगों को उसका चस्का लगने लगा और नशेबाजी की तरह वह आदत का अंग बनने लगी। उसी प्रयत्न का फल है कि आज चाय वालों की दुकानें कदम-कदम पर खुली पाई जाती हैं। सभी पर ग्राहकों की भीड़ लगी रहती है। उपेक्षित को अपेक्षित बनाने का यही तरीका है। विज्ञापन के सहारे बीड़ी बेचने वाला, दवा विक्रेताओं की तरह लोकसेवियों को शिक्षा की महिमा समझाने में सारी शक्ति लगानी चाहिए। इस प्रयास को एक प्रचंड आंदोलन की तरह उभारना चाहिए। व्यक्तिगत संपर्क में अपनाने का लाभ और उपेक्षा बरतने पर दुष्परिणाम भुगतते रहने की समझ उत्पन्न करनी चाहिए। यह प्रथम चरण पूरा कर लिया, तो आगे का प्रगतिक्रम चल पड़ना सुगम हो जाता है।

मुफ्त में लाभ देना, एक बढ़िया प्रलोभन आकर्षण है। नशेबाजी का चस्का किसी को लगाने वाले आरंभ में यही करते हैं। साधन मुफ्त में उपलब्ध कराते हैं। कई बार स्वाद चख लेने पर आदत पड़ जाती है फिर उसे पाए बिना बेचैनी रहने लगती है। शिक्षा के संबंध में तथा स्वाध्याय के रसास्वादन के संदर्भ में भी यही बात है। आरंभ में इनकी कीमत नहीं माँगनी चाहिए। इधर-उधर ही संग्रह करके व्यवस्था जुटानी चाहिए। पीछे जब आँख खुलती है, दूरदर्शिता जगती, तो हर किसी को उचित मूल्य देकर ही खरीदना अच्छा

लगता है। यही स्वाभाविक भी है और सज्जनता का तकाजा भी। विदेशों में जो देश प्रगतिशील हैं, उनमें स्कूलों में पड़ने वाले छोटे छात्रों की तुलना में बड़ी आयु वाले निजी स्कूलों में पढ़कर ज्ञान बढ़ाने वालों की संख्या कई गुना रहती है। वे उपार्जन में भी लगे रहते हैं और बचे हुए समय में अतिरिक्त शिक्षा प्राप्त करके अपनी योग्यता बढ़ाते हैं। बड़ी हुई योग्यता के आधार पर ही किसी का वजन बढ़ता है, उसी आधार पर प्रगति का लाभ भी मिलता है। अपने देश में भी आगे चलकर यही होगा। जब महत्व समझा जाने लगेगा, तो लोग दौड़-दौड़कर ऐसे केंद्रों की तलाश करेंगे जिनसे संपर्क साधकर योग्यता बढ़ाई और अधिकाधिक संपन्नता बढ़ाई, सफलता पाई जा सकती है। गाड़ी को स्टार्ट करने में ही जोर लगाना पड़ता है। जब चक्का घूमने लगता है, तो सरपट दौड़ने लगने में भी कुछ कमी नहीं रहती।

किन्हीं की सहायता धन, अन्न, वस्त्र, औषधि आदि देकर भी की जा सकती है। पर वह सामयिक एवं अस्थायी है। स्थायी और समाधानकारक सहायता सद्ज्ञान के रूप में ही हो सकती है। यही संजीवनी विद्या है। जीवन विज्ञान उसी को कहते हैं। यदि हमें पिछड़ेपन को वस्तुतः भगाना है, तो उसके लिए गरीबी से नहीं पिछड़ेपन से भी मुक्ति दिलाने की आवश्यकता होगी। इसके लिए समूचा देश, समूचा विश्व तरसता है। साक्षरता वाहन है और सद्ज्ञान उसका अधिष्ठाता, अधिकारी। दोनों के समन्वय से ही एक पूरी बात बनती है। निरक्षरों को साक्षर तो बनाना ही चाहिए पर साथ में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि व्यक्तित्व का विकास साधनों और निरक्षरों के लिए समान रूप में आवश्यक है। इसलिए प्रमुखता उसी को मिलनी चाहिए; विस्तार उस समग्र शिक्षा का होना चाहिए, जो जीवन के हर पक्ष को समुन्नत एवं सुसंस्कृत बनाता है।



छात्रों को सामयिक समस्याओं से अवगत कराया जाए

इस देश में धार्मिक कथा-प्रवचनों की, राजनीतिक सभा, अधिवेशनों की धूम रहती है। इसका कारण यह है कि पढ़ने में जितनी समझ नियोजित करनी पड़ती है, उसकी तुलना में बात अधिक सरलतापूर्वक कानों के माध्यम से मस्तिष्क तक जा पहुँचती है। फिर बहुत से लोगों का एक स्थान पर एक होना अपने आप में एक ऐसा मनोरंजन है, जिसका लाभ हर कोई उठाना चाहता है। यही कारण है कि इस सिनेमा प्रधान युग में भी देहातों में गसलीला, ढोला, मारू आदि नाटक प्रहसन अभी भी अपना अस्तित्व कायम रखे हुए हैं।

हमें जीवन निर्माण और समाज निर्माण का उद्देश्य लेकर ऐसे साप्ताहिक सत्संगों का क्रम चलाना चाहिए; जिनमें आकाश, पाताल की नहीं, प्रस्तुत समस्याओं की भी चर्चा हो और उस आधार पर मनुष्य उस ज्ञान का संपादन कर सके, जो ज्वलंत समस्याओं के संदर्भ में विभिन्न क्षेत्रों के उलझे सुझाए जाने वाले सवालों की भ्रांतियाँ निपटाने और सही मार्गदर्शन देने में समर्थ हो सकें।

अपने देश में बिलगाववाद की दुष्प्रवृत्ति इतनी विषम हो चली है कि देशवासियों में एक जाति, एक राष्ट्र, एक समाज की भावना बन ही नहीं पाती। बनती है तो परिपुष्ट नहीं हो पाती, उथली रह जाती है, बाहर से नारंगी एक लगती है, पर भीतर से उसकी फाँके अलग-अलग होती हैं। संप्रदायवाद, भाषावाद, क्षेत्रवाद अपनी सीमित

मर्यादा में न रहकर अन्यों को हेय या द्वेष बुद्धि से ही दीखने लगते हैं। इसका प्रतिफल प्रत्यक्षतः फूट या विग्रह ही है। इन बुराइयों के रहते देश वैसा सबल नहीं हो सकता, जिस प्रकार इसरायल, जापान आदि देशभक्ति के झंडे के नीचे एकत्रित होते और मिल-जुलकर राष्ट्रीय समस्याओं को हल करते तथा परस्पर सघन आत्मीयता बनाए रहते हैं।

हिंदू समाज में एक और अभिशाप है—“जन्म जाति के नाम पर एक-दूसरे को छोटा-बड़ा या ऊँचा-नीचा मानना। प्रश्न सवर्ण-असवर्ण का ही है। वैसी ही बिलगता सभी छोटे समुदायों में दीख पड़ती है। सवर्ण अपनी उपजाति के साथ संबंध जोड़ते हैं। दूसरे सवर्णों के साथ उनका रोटी-बेटी का व्यवहार नहीं चलता। यही बात असवर्णों के बारे में भी है। एक अछूत जाति दूसरी अछूत जाति को नीचा-ऊँचा मानती है और उसके साथ अपनी रोटी-बेटी के रिश्ते नहीं जोड़ती। इस प्रकार हम सब फूट या अलगाव के बुरी तरह शिकार हैं। यदि ये पुरानी परंपराएँ जल्दी ही नहीं मिट सकती, तो हमें कम से कम सहिष्णु और उदार तो होना ही चाहिए। खरबूजे पर ऊपर लकड़े होती हैं, पर भीतर झाँकने पर उसका गूदा एक ही होता है। यह स्थिति उत्पन्न किए बिना भीतरी अलगाववाद हमें खोखला करता रहेगा।”

यही बात स्त्रियों के संबंध में भी है। यों उन पर घर-गृहस्थी का काम भी कम नहीं रहता, पर परदा प्रथा द्वारा उत्पन्न की गई बेबसी द्वारा वे किसी मुसीबत के समय अपना एवं बच्चों का भरण-पोषण नहीं कर पाती। पति के न रहने या परित्याग कर देने की स्थिति में नारी का निर्वाह कठिन हो जाता है और बच्चों का भरण-पोषण एवं शिक्षा-चिकित्सा जैसी आवश्यकताओं की पूर्ति तो और भी कठिन हो जाती है। आजीवन घर के कैदखाने में बंद रहने के कारण मनोबल टूट जाता है। ऐसी दशा में वह क्या करें, यह समझ में नहीं आता। कई बच्चों के परिवार का दायित्व न

ससुराल बाले उठाते हैं और न पिता पक्ष वाले। ऐसी दशा में पड़ी हुई महिलाओं की दुर्दशा देखते हुए करुणा से कलेजा फटता है और उन लोगों पर भारी क्रोध आता है, जो उन्हें पिंजड़े की तरह कैद करके रखते हैं। इसके पीछे उनका यह अविश्वास काम करता है कि यदि महिलाएँ जनसंपर्क क्षेत्र में उतरीं, तो वे अपना शील गँवा बैठेंगी। फिर पुरुष के संबंध में भी स्त्रियाँ ऐसा ही संदेह करने लगें और पुरुषों को कैद रखना चाहें, तो फिर उसे किस न्याय के अनुसार अनुचित कहा जाएगा?

आंधी जनसंख्या स्त्रियों के रूप में अपंग बनी हुई है। जातिगत ऊँच-नीच की भावना ने हमें एक होते हुए भी टुकड़ों में बाँट दिया है। विवाह के समय सवर्णों में लड़के का मोल वसूल किया जाता है और असवर्णों में लड़की का। यह पैसा धूम-धाम के निरर्थक अपव्यय में चला जाता है और हमें गरीबी तथा बेर्इमानी के चंगुल में फँसना पड़ता है। भिक्षा व्यवसाय पर ६० लाख लोग उतारू हैं और तरह-तरह के अंधविश्वास फैलाते रहते हैं। नशेबाजी इन सबसे ऊपर है, जो पैसा भी खरच कराती है, अस्वस्थता के भार से भी लाद देती है।

देश में प्रचलित कुछ प्रमुख बुराइयों की ऊपर की पंक्तियों में चर्चा की गई है। इसके अतिरिक्त छिटपुट और भी अनेकों हैं। इनके विरुद्ध युद्ध स्तर पर मोरचा न खोला गया तो हम गरीबी, बेकारी, अशिक्षा, अस्वस्थता जैसे अभिशापों से पीछा न छुड़ा सकेंगे और कभी एक समर्थ समाज की तरह समृद्धि न हो सकेंगे। जिस बरतन की तली में अनेक छेद हों, उसमें पानी भरने से समाज को प्रगतिशील बनाने के उपचार किस प्रकार सफल हो सकेंगे?

प्रगति के लिए जो करने को पड़ा है, वह भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। ६५ प्रतिशत लोगों को साक्षर बनाना, साक्षरों तक प्रगतिशील साहित्य पहुँचाना, व्यायामशाला के नाम से स्वास्थ्य केंद्र चलाना और शारीरिक, मानसिक बल बढ़ाना अपने आप में एक बड़ा काम

है। उत्पादन बढ़ाना और बेरोजगारी दूर करना ऐसे प्रसंग हैं, जिनके लिए जन सहयोग की भारी आवश्यकता है। सरकार चाहे तो भी इतने उत्तरदायित्व अपने बलबूते नहीं उठा सकती।

इन दिनों समाजसेवियों का वैसा समुदाय उभरना चाहिए, जैसा कि बुद्ध एवं गांधी के जमाने में उभरा था। उन्हें सर्वप्रथम एक ही काम करना चाहिए—जनमानस को परिष्कृत करना। इसके लिए सत्साहित्य से भी अधिक आवश्यक है—अवकाश के दिनों छोटे-बड़े सत्संग समारोहों का आयोजन, जिसमें शिक्षित और अशिक्षित सभी अपने-अपने ढंग से लाभ उठा सकें।

परंपरा के नाम पर चल रही अगणित कुरीतियों को दूर करने के लिए हममें से अधिकांश विज्ञजनों को कार्यक्षेत्र में उत्तरना चाहिए, जो स्वाध्याय और सत्संग प्रयोजनों की सामयिक आवश्यकताओं का समावेश करके ऐसा वातावरण विनिर्मित कर सके, जिसके सहारे शिक्षितों और अशिक्षितों के बीच फैला हुआ अपने ढंग का पिछड़ापन दूर हो सके।

यह कार्य छुट्टी के दिनों या घंटों में बौद्धिक शिक्षण के रूप में अतिरिक्त रूप में चलाया जा सकता है। सम्मिलित होने में सभी को सुविधा न हो, तो इसे ऐच्छिक विषय माना जाए। इस प्रशिक्षण में प्रश्नोत्तर शैली अपनायी जाए, तो यह और भी अधिक अच्छी रहेगी। सुकरात की यही शैली थी। इस आधार पर सुनने वालों की निजी विचार शक्ति को अधिक प्रखर बनाने का अवसर मिलता है।



सद्ज्ञान विस्तार हेतु कुछ अन्य उपाय, उपकरण भी

यह तथ्य भी सौ बार समझा और हजार बार समझाया जाना चाहिए कि मानवी विकास के हर पक्ष को प्रभावित करने वाली उस विद्या की हर किसी के लिए महती आवश्यकता है, जो उसके चिंतन एवं व्यवहार में उत्कृष्टता भर सके। मानवी गरिमा को समझने एवं तदविषयक जिम्मेदारी निभाने के लिए भाव संवेदना उभार सके, संकल्प उठ सके, साहस जग सकें।

इसके लिए साक्षरता आवश्यक है, क्योंकि परामर्श एवं व्यक्तिगत अनुभव से जीवनोपयोगी अनेकानेक विषयों में से कुछ को ही सीमित मात्रा में जाना जा सकता है। जो बच जाता है वह इतना अधिक होता है कि उसके लिए आप्तजनों-युग मनीषियों द्वारा विनिर्मित साहित्य का आश्रय लिया जा सकता है। उपयोगी विषयों की बहुलता ही किसी की दूरदर्शिता बढ़ाती और उसे प्रगति के सन्मार्ग पर चलाती है।

इतने पर भी यह आशंका बनी ही रहेगी कि बड़ी संख्या में लोग साथी न बन सकें। उसका महत्व न समझें और उस हेतु आवश्यक प्रयत्न न करें। उन्हें अवकाश न मिले, अभिरुचि न मिले, परिस्थिति ऐसी न बने कि वे साक्षरता की उस सीमा तक न पहुँच सके, जहाँ जीवन दर्शन के, साहित्य के मर्म को समझ सकना संभव होता है। अड़चनों की संभावना से हताश न होकर प्रगति-प्रयास जारी रखने चाहिए और जन समाज को शिक्षित बनाने का लक्ष्य पूरा करने के

लिए अपनी, अपने परिवार की अधिकाधिक शक्ति इस केंद्र पर केंद्रित किए रहनी चाहिए। फिर भी इतने समय में भटकाव की खुमारी उतासने में कुछ तो समय लगेगा ही। पतन तो जल्दी होता है, पर प्रगति में समय लगता है। वृक्ष को काटकर एक घंटे में गिराया जा सकता है, पर उसे रोपने और फलने-फूलने की स्थिति तक पहुँचने में तो समय लगता ही है, लगेगा भी। तत्काल इस संदर्भ में अभीष्ट प्रतिफल मिलने की अपेक्षा नहीं की जा सकती। पर साथ ही तथ्य यह भी है कि प्रस्तुत हेय परिस्थिति को अधिक दिन बनाए भी नहीं रखा जा सकता। रुग्णता को लंबे समय तक सहते रहने पर तो प्राण संकट ही उपस्थित हो सकता है। इसीलिए रोग का आक्रमण होने पर तत्काल चिकित्सा की व्यवस्था करनी पड़ती है। जन समाज का स्तर यदि नैतिक, सामाजिक क्षेत्रों में गया-गुजरा रहा, तो तेजी से बदलते संसार में हम बहुत पिछड़ जाएँगे। उपेक्षापूर्वक विलंब करते रहने की बात अब अधिक दिनों नहीं चलती रह सकती। अभाव की पूर्ति एक उपाय से न बन पड़े, तो उसके लिए दूसरे साधन अपनाने होंगे। सुधार, परिष्कार का—अभ्युदय, उत्कर्ष का लक्ष्य पूरा करने में शिथिलता तो बरती ही नहीं जा सकती।

शिक्षितों और अशिक्षितों के लिए समान रूप से आवश्यक शालीनता का प्रशिक्षण अधिक सरलता और सफलता के साथ तो साक्षरता बढ़ाकर, स्वाध्याय की प्रवृत्ति जगाकर ही संभव है। पर बात ऐसी भी नहीं है कि मात्र लेखनी ही अभीष्ट प्रयोजन को सिद्धि कर पाए और कोई दूसरा आधार अवलंबन का है ही नहीं।

अतिरिक्त उपाय खोजने पर चित्र प्रदर्शन और संगीत संवेदन के दो और उपाय ऐसे हैं, जो शिक्षित-अशिक्षित सभी को पतन के गर्त में धकेलते ही नहीं, अपितु उत्कर्ष के उच्च शिखर तक पहुँचाने में भी समर्थ हो सकते हैं।

चित्र प्रदर्शन के प्रसंग को सामने लें, तो फिल्मों के प्रभाव से प्रभावित होने वाले जनमानस को प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। यह

चलते-फिरते चित्रों का ही चमत्कार है। अब दूरदर्शन भी उस आवश्यकता को पूरा करने लगा है। महामानवों के चित्र इसीलिए घरों, कमरों में टाँगे जाते हैं कि उनके महान व्यक्तित्व की झाँकी बार-बार होती रहे। प्रचार विभाग अपने कार्यों और उद्देश्यों की जानकारी जनसाधारण को देने के लिए चित्र-प्रदर्शनियाँ लगाता है। विभिन्न विषयों में मार्गदर्शन एवं प्रदर्शन करने वाले बड़े साइज के रंगीन चार्ट छपते हैं। उनके आधार पर स्वास्थ्य, सफाई से लेकर अनेक विषयों की जानकारियाँ कराई जाती हैं। स्कूलों में भी भूगोल, इतिहास से संबंधित चित्र टंगे रहते हैं। छोटे बच्चों की पुस्तकों में पाठ्य-सामग्री से अधिक स्थान चित्र घेरे हुए होते हैं, ताकि बालक को उस दृश्य के माध्यम से तथ्यों को समझने में सुविधा मिले।

उपर्युक्त प्रसंगों में से कहाँ, किसका, किस प्रकार उपयोग हो सकता है—इसका निर्णय तो चित्रकारों, प्रकाशकों, विक्रेताओं, वितरण-कर्त्ताओं को अपनी शक्ति-सामर्थ्य आंकते हुए ही त्वरित करना चाहिए। पर कुछ तो अत्यंत सरल माध्यम ऐसे हैं, जो अभी भी एकाकी अपनाए जा सकते हैं और उनका लाभ निरंतर संपर्क-क्षेत्र में पहुँचाया जा सकता है। ‘स्लाइड प्रोजेक्टर’ इसी प्रकार का सरल और सस्ता माध्यम है। उसे अँधेरे के बातावरण में एक छोटे समुदाय को भली प्रकार दिखाया जा सकता है। चित्रों का परिचय और उद्देश्य मौखिक रूप से बताया जाता रहे, तो दृश्य और श्रव्य का सम्प्रिण चल पड़ता है। इस माध्यम के अभ्यास से अभ्यासी कुछ ही दिनों में कुशल वक्ता बन सकता है। गोष्ठियों, समारोहों, आयोजनों के माध्यम से जन समुदाय का चिंतन दिशा विशेष में प्रभावित कर सकता है। यों सिनेमा की तुलना स्लाइड प्रोजेक्टर से नहीं की जा सकती है। विपुल संपदा से चलने वाले फिल्म उद्योग को विशालकाय मिल-कारखाना माना जाए? तो स्लाइड प्रोजेक्टर को चरखा मानना पड़ेगा। विस्तार और प्रभाव का अंतर रहते हुए भी लघुता की उपयोगिता को नकारा नहीं जा सकता। हाथों का श्रम

अभी विशालकाय बिजलीघरों की तुलना में कहीं अधिक उत्पादन करता है। साथ ही सस्ता भी पड़ता है। वे उपकरण मरम्मत करने वालों के यहाँ भी नहीं जाते हैं। हाथों की शक्ति जीवन भर साथ देती है। ऐसा ही कुछ चित्र-प्रदर्शन के संबंध में भी सोचा जा सकता है। इसी आधार पर उसका कोई उपयोगी माध्यम अपने क्षेत्रीय कार्यक्रम में सम्प्लिट किया जा सकता है। इस संदर्भ में हमें गंभीरता से सोचना चाहिए और जहाँ, जिसे, जिस प्रकार कार्यान्वित किया जा सके, उसे उस प्रकार प्रचार के सस्ते, सरल माध्यम के रूप में कार्यान्वित करना चाहिए। इस संदर्भ में उत्पादकों की बड़ी भूमिका हो सकती है। प्रयोक्ता और खरीदार तो सामान्य स्तर के लोकसेवी भी हो सकते हैं।

दूसरा माध्यम है—संगीत, अभिनय। यों इन दिनों यह माध्यम रिकार्डों, फिल्मों, महँगे संगीत सम्मेलनों ने अपना लिया है और उसी समुदाय का एकाधिकार भी बनता जा रहा है। प्राचीन काल में संगीत कला राज्याश्रय में पलती थी। अब उसे मनचले और कामुक प्रवृत्ति वाले अपने संरक्षण में लेते जा रहे हैं। इसी दुर्गति की, उससे उत्पन्न होने वाले दुष्प्रभावों की परिकल्पना करते हुए औरंगजेब ने वाद्य यंत्रों को नष्ट कर दिया था और गायकों को देश निकाला दे दिया था। पर यह एकांगी निर्धारण रहा। उसके उपयोगी पक्ष भी हैं। नारद से लेकर मीरा, सूर, कबीर, चैतन्य महाप्रभु तक ने इस माध्यम को अपनाया था। मध्यकालीन अधिकांश संतों ने अपनी संगीत पर आधारित प्रचार मंडलियाँ बनाई थीं। इनके माध्यम से हताश और विकृत जनमानस को दिशा देने एवं आशा की ज्योति जगाने में सफलता मिली। शिव का डमरू, कृष्ण की वंशी, नारद की वीणा, सरस्वती का सितार प्रसिद्ध है। मंदिरों की पूजा-आरती अभी भी शंख, घड़ियाल, मृदंग, मंजीरा आदि के सहित संपन्न होती है। संकीर्तन व्यवस्था को धार्मिक कर्मकाण्डों जैसी मान्यता मिली हुई है। उसमें संगीत माध्यम ही प्रधान रहता है।

पिछले दिनों जब सिनेमा, टेलीविजन जैसे माध्यमों का संगीत पर एकाधिकार नहीं हुआ था, तब तक संगीत मंडलियाँ अपने-अपने क्षेत्र में अपना-अपना काम बड़ी सफलतापूर्वक करती थीं। उनके अपने-अपने स्तर थे। रामलीला, रासलीला, नौटंकी, आल्हा, ढोला, रसिया, जिकड़ी आदि लोकगीतों, लोकनृत्यों का अस्तित्व बना हुआ था और यह विकसित भी हो रहा था। अब उनके प्रयोक्ता और दर्शक दोनों ही घट गए हैं। इसका प्रधान कारण उत्साह की कमी ही है। यदि भाव संवेदना उभारने वाले इस अति प्रभावशाली पक्ष का महत्त्व और माहात्म्य समझा सकें, तो बिखरे हुए देहातों में उस पुरातन संगीत परंपरा को समुचित श्रेय और सम्मान मिल सकता है। विवाह-शादियों में, उत्सव-आयोजनों एवं पर्व त्योहारों पर अभी भी घरों में निजी रूप से और समुदाय के बीच सार्वजनिक रूप से यह व्यवस्थाएँ चलती देखी जाती हैं। इससे प्रतीत होता है कि रस मरा नहीं है। अस्तित्व मिटा नहीं है। आवश्यकता इस पक्ष को सामयिक बनाने और नए सिरे से सुगठित करने और प्राण भरने की है। संगीत सम्मेलनों के रूप में गीत वाद्य माध्यम अपनाते हुए जनजागरण के कार्य में सफलतापूर्वक लंबा मार्ग पार करते हुए लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है।

समुदाय तथा मंडली का गठन किए बिना पर्व-समारोहों की भीड़ जुटाए बिना, कार्यकर्ताओं के लिए धन जुटाए बिना, भी यह कार्य एकाकी रूप से हो सकता है। इसका उत्तर “हाँ” में विश्वासपूर्वक दिया जा सकता है। इसके लिए स्लाइड प्रोजेक्टर की तरह दूसरे सर्वतंत्र स्वतंत्र माध्यम अपनाए जा सकते हैं। वे हैं (१) टेप रिकार्डर और (२) लाउड स्पीकर। इन्हें खरीदने में आरंभिक पूँजी की तरह कुछ तो लागत लगानी ही पड़ेगी। किंतु आगे के लिए ऐसा मार्ग खुल जाएगा, जिस पर चिरकाल तक उत्साहपूर्वक चलते रहा जाए। उनके प्रभाव का रसास्वादन स्वयं करते रहा जाए और दूसरों को कराते रहा जाए।

टैप रिकार्डरों के लिए भाव भरे संगीतों के गुच्छक टैप कराए जा सकते हैं। उन्हें एकाकी संपर्क साधकर अथवा जितने जहाँ इकट्ठे हो सकें, वहाँ उनको इकट्ठे करके टैप माध्यम से न केवल भाव भरे संगीत एवं प्रेरणास्पद भाषण भी सुनाए जा सकते हैं, इस प्रकार एक ही व्यक्ति जनसंपर्क साधते हुए एक ही दिन में सैकड़ों-हजारों को वह लाभ देता रहता है, जो उत्कृष्ट संगीत सुनने एवं धार्मिक मार्गदर्शन करने वाले समारोह-आयोजनों में सम्मिलित होकर उठाया जा सकता है। इसमें सहयोगियों को जुटाने एवं सम्मेलन बुलाने के लिए अनेक पेचीदा प्रयोग करने की भी आवश्यकता नहीं रह जाती।

सर्वांगीण उत्कर्ष के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि बनाने के लिए गरीबी हटाओ आंदोलन की तरह हमें “शिक्षा बढ़ाओ” का रचनात्मक आंदोलन भी अभीष्ट उत्साह उत्पन्न कर सकने वाली सीमा तक पहुँचाना पड़ेगा। इसके लिए प्रौढ़ शिक्षा के साथ पुस्तकालय संस्थापन की, सामयिक समस्याओं के निवारण की, व्यवस्था बनानी ही होगी। साथ ही चित्र-प्रदर्शन एवं संगीत-श्रवण के लिए सुनियोजित व्यवस्था भी बनाए रखनी होगी, ताकि लोकमानस के परिष्कार का प्रगति रथ को आगे धकेलने वाले अनेक माध्यमों की सहायता से द्रुतगामी बनाया जा सके।



परीक्षा प्रणाली भी बदलनी पड़ेगी

भ्रष्टाचार के संबंध में अब तक डाकघर और स्कूल इससे बचे हुए समझे जाते थे, पर इस बीमारी ने शिक्षा के क्षेत्र में धीरे-धीरे कदम आगे बढ़ाते हुए उसे मजबूती से जमा लिया है।

कायदे से निर्धारित पाठ्य पुस्तकों में से छात्रों को सभी अध्ययन करना चाहिए, पर वे गैस-पेपर और कुंजियों के माध्यम से यह अनुमान लगा लेते हैं कि प्रश्नपत्र इन विषयों में से किसी के आएँगे। वे उतना ही पढ़ते हैं और शेष को छोड़ देते हैं। जहाँ-तहाँ से छिटपुट बातें याद कर लेने से परीक्षा में उत्तीर्ण होने लायक नंबर आ जाते हैं और वे बिना उपयुक्त परिश्रम किए इस तीर-तुक्के के सहरे पास हो जाते हैं।

इसके अतिरिक्त वार्षिक परीक्षा पद्धति अपने आप में ऐसी है, जिसमें अवांछनीयता की पूरी गुंजाइश चल पड़ी है। एक-दूसरे की नकल और निरीक्षक द्वारा मुँह फेर लेने या देखते, हँसते रहने का प्रचलन अब सर्वविदित हो गया है। जो रोकते हैं उन्हें छुरे दिखाए जाते हैं और हाकी से सिर फोड़ देने या कट्टे दिखाकर कचूमर निकाल देने का डर दिखाया जाता है। बहुत से इतने में ही डर जाते हैं। बाकी को प्रलोभन देकर काबू में कर लिया जाता है। एक के स्थान पर दूसरे का पर्चा लिख आने, पर्चे जाँचने वालों का पता लगाकर अपनी तिकड़में भिड़ा लेने, नकली मार्कशीट प्राप्त कर लेने जैसे गोरख धंधे अब किसी से छिपे नहीं रह गए हैं। जो सिद्धांतवाद की बातें करते हैं, वे हर तरह नुकसान उठाते हैं। कितनी ही जगहों पर मास्टरों को ट्यूशन के लिए घर पर बुलाया

जाता है और उनसे हर कीमत पर पास होने का आश्वासन ले लिया जाता है। इस धंधे में चालाक छात्र और चालाक मास्टर नफे में रहते हैं। जो यह सब नहीं कर पाते उन्हें सही मार्ग पर चलने का गलत दंड मिलता है। यह आज के जगत का एक कड़ुआ सत्य है।

रोकथाम के अनेक सुझाव आते हैं, पर विजय चालाकी की ही होती है। इसका परिणाम यह होता है कि अयोग्य छात्र अपनी योग्यता प्रमाणपत्र के आधार पर सिद्ध करके ऊँचे ओहदे प्राप्त कर लेते हैं, पर जब काम की दक्षता का प्रश्न आता है, तो बगलें झाँकते हैं। जिन्होंने पढ़ने में परिश्रम नहीं किया है, वे अवसर आने पर अयोग्य ही साबित होते हैं और सौंपें गए कामों को अयोग्यता के कारण बिगड़कर रख देते हैं। पदोन्नति के समय ऐसे ही लोगों में से अधिकांश अपने साथ अत्याचार होने की बात कहते सुने गए हैं।

शिक्षा के क्षेत्र में फैली इन दुष्प्रवृत्तियों को किस प्रकार घटाया या मिटाया जाए? इसके अनेक उपाय सोचने पर वर्तमान प्रचलन के रहते सुधार के कोई तरीके समझ में नहीं आते। परंपरा इतनी बिगड़ गई है कि उनके लिए नए ढंग से नया ही कुछ सोचना पड़ेगा।

एक उपाय सूझता है कि अन्य देशों की तरह परीक्षा पद्धति ही बदल दी जाए। साप्ताहिक या मासिक कार्य के अनुरूप योग्यता की लिस्ट बनती रहे। जाँच करने वाले अन्यत्र के लोग हों, ताकि आपस में तालमेल बिठाकर गड़बड़ी की संभावना न रहे। वह अंक साल भर बाद जोड़कर उत्तीर्ण या अनुत्तीर्ण होने का निष्कर्ष निकाला जाए।

एक साल बेकार जाने की हानि से भावुक विद्यार्थी तिलमिला जाते हैं। वे या तो शर्म से पढ़ाई छोड़ बैठते हैं या आत्महत्या जैसी कोई दुर्घटना कर बैठते हैं। मन टूट जाना भी एक प्रकार से प्रगति के पथ में भारी विघ्न खड़ा करने वाली अकाल मृत्यु ही है। घाटे को ध्यान में रखते हुए घर के लोग भी बचत की किसी तरकीब में सम्मिलित होते देखे गए हैं। एक वर्ष का समय, फीस और भोजन

आदि का खरच इस महँगाई के जमाने में कितने भारी पड़ते हैं, उसे भुक्तभोगी ही जानते हैं।

होना यह चाहिए यदि कोई किसी विषय में फेल हुआ है, तो एक-दो मास की तैयारी के बाद इस कमी को पूरा करने का उसे अवसर दिया जाए, ताकि उसका एक वर्ष का समय खराब न जाने पाए। पच्चीस वर्ष की आयु होने पर नौकरी भी नहीं मिलती। उस दृष्टि से उन दिनों का एक साल खराब होना भविष्य के लिए एक नई विपत्ति लेकर सामने आता है।

हमारा पूरा और पक्का विश्वास है कि आज नहीं तो कल चरित्र-गठन, स्वास्थ्य संबद्धन और स्वावलंबन की शिक्षा प्रस्तुत प्रणाली में सम्मिलित करनी पड़ेगी। आज के विशेषज्ञ अपने अहंकार में जो भी निर्णय करें, उनकी इच्छा, पर वह दूर नहीं जब व्यावहारिकता सूत्रसंचालकों को विवश करेगी और उन्हें बेकार शिक्षितों के आक्रोश से बचने के लिए वही करना पड़ेगा, जिसका इन पंक्तियों में संकेत किया गया है।

उन विषयों के पाठ्यक्रम में सम्मिलित हो जाने के बाद लेखन के विषय कम रह जाएँगे। देखभाल और पूछताछ, काम की, योग्यता और प्रतिभा की होगी। यह सब मौखिक होगा। लेखन के लिए संभवतः तिहाई-चौथाई विषय ही रह जाएँगे। ऐसी दशा में नकल करने का धंधा सहज ही निरस्त हो जाएगा। छात्र भी नई दृष्टि से सोचेंगे कि अब उन्हें निजी काम करना है, तो वह धांधली नहीं चलेगी जो उन दिनों अयोग्यों को भी योग्य बना देती है। इस दिशा में उपयुक्त यही है कि जो काम सीखना है, उसे पूरा ही सीख लिया जाए अन्यथा तीर, तुक्का चलाने के अभाव में पश्चाताप ही करना पड़ेगा। आज जो डिग्रियों का मूल्य है भविष्य में वह न रहेगा। ऐसी दशा में उनके लिए रिश्वत देने-लेने और डराने-धमकाने का कोई प्रयोजन भी न रह जाएगा। एक वर्ष रुककर भी यदि योग्यता पूरी होती है, तो लोग उसे पूरा करना पसंद करेंगे,

अन्यथा खोटे सिक्के की तरह जहाँ भी जाया जाएगा, ठोकर खाने और उपहास सहने की प्रताड़ना सहनी पड़ेगी।

डिग्री की कीमत पर अफसरी का लालच ही उन सभी भ्रष्टाचारों की जड़ है, जो देखते-देखते अयोग्य बना देती है। यहाँ नियुक्त करने वाले भी अपनी गोटी लाल करने से नहीं चूकते।

इस नीचे से ऊपर तक फैले हुए अनाचार का अंत करने का उपाय एक ही है कि अफसरों की ऊँची परीक्षाएँ ऐसे कड़े माध्यमों से ली जाएँ, जिसमें रिश्वत की गुंजाइश कम रहे, पब्लिक सर्विस कमीशन जैसी संस्थाओं के निरीक्षक-परीक्षक ऊँचे स्तर के लोग होते हैं। उन्हें अपनी प्रतिष्ठा और बदनामी का ध्यान रहता है, इसलिए वहाँ तक रिश्वतें या सिफारिशें पहुँचाने की आशा नहीं के बराबर ही रहती है। फिर भी कड़ाई की दृष्टि रखना जरूरी है।

छोटी डिग्रियाँ जब साक्षर और प्रमाणित नागरिक होने का प्रमाण रह जाएँगी तथा वे कोई ऊँची या आमदनी वाली जगह न दिला सकेंगी, तो सहज ही आकर्षण घटेगा, अधिक लोग शामिल होंगे, तब गलत तरीका अपनाना उतना सरल न रहेगा जितना अब है।



बाल विकास केंद्रों की स्थापना हो

स्कूली पढ़ाई तो बड़ी आयु में भी चलती रह सकती है। उस क्रम को आजीवन भी चलाया जा सकता है। स्वाध्याय भी इस प्रकार का अध्ययन ही है, जिसे ज्ञानप्राप्ति में अमोघ माध्यम माना जाता है। शरीर को नित्य आहार की आवश्यकता पड़ती है। उसी प्रकार मस्तिष्क उपयोगी ज्ञान-संवर्द्धन के लिए लालायित रहता है। इस क्षुधा को न बुझा पाने पर चिंतन क्षेत्र में अनेकानेक विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं। वे अनैतिकताओं, मूढ़ मान्यताओं, सनकों, आवेगों, मनोविकारों के रूप में उभरती हैं। चेतना तंत्र पर आक्रमण करके वे उसे खोखला बना देती हैं। भोजन न मिलने पर शरीर दिन-दिन दुर्बल होकर विकृत होता जाता है और मौत के मुँह में जा पड़ता है। इसी प्रकार जीवन की समस्याओं का समाधान करने वाला स्वाध्याय-सत्संग न मिलने पर चेतना तंत्र जीर्ण-शीर्ण होने लगता है और उसे गई-गुजरी, दीन-दयनीय स्थिति से घिरना पड़ता है। इसलिए साधना, स्वाध्याय, संयम, आराधना का अवलंबन करते हुए स्वयं ही आगे बढ़ना और ऊँचे उठना पड़ता है।

पर यह स्थिति बचपन में नहीं रहती। उसमें अभिभावकों की सहायता अपेक्षित होती है। बालक अपने बलबूते निर्वाह के साधन नहीं जुटा सकता है और न शिक्षा-व्यवसाय के लिए सफलतापूर्वक एकाकी कदम बढ़ा सकता है। उसे पग-पग पर संरक्षकों की सहायता अपेक्षित होती है। किशोरावस्था और भी अधिक विकट है। उसमें नए

रक्त का उबाल-जोश तो भर देता है, पर होश विकसित नहीं होता जो उपयुक्त संपर्क एवं दिशा दर्शक वातावरण पर निर्भर है। अभिभावक बालकों के लिए अर्थभार वहन करते हुए सुविधा-साधन जुटाते रहते हैं। अध्यापक स्कूली पाठ्यक्रम पूरा कराते रहते हैं। नित्य कर्म और अध्ययन के उपरांत भी बालकों के पास ढेरों समय बच जाता है। इसे वे स्वच्छंदतापूर्वक बिताते हैं। साथी ढूँढ़ते और उनके साथ रहकर घूमने-फिरने या दूसरे प्रकार से मनोरंजन करने का प्रयास करते हैं। इस प्रयास में उन्हें प्रायः ऐसे साथी मिल जाते हैं, जो आवारागदी में घूमते-फिरते और दुर्व्यसनों में फँसे होते हैं। वे ही प्रायः साथी तलाशते और अपने ही जाल-जंजाल में फँसाते रहते हैं। यदि इस कुचक्र से बालकों को बचाया न जा सके, तो वे पढ़ाई में पिछड़ जाते हैं, स्वेच्छाचार अपनाते और साथियों जैसे दुर्व्यसनों में जा फँसते हैं। बचपन से लेकर किशोरावस्था के अंत तक का समय ऐसा है, जिसे अत्यधिक साज-सँभाल की आवश्यकता पड़ती है। यदि उसे स्वच्छंद छोड़ दिया जाए, तो उच्छृंखलता के साथ जुड़ी हुई अनेकानेक दुष्प्रवृत्तियाँ भड़क सकती हैं और उस अनगढ़ का ही नहीं, संबद्ध लोगों का भी भविष्य अंधकारमय बन सकता है। वे अनेकों उलझनों में उलझ सकते हैं।

प्राचीन काल में गुरुकुल प्रणाली की शिक्षापद्धति थी। बच्चे उनमें पढ़ने के साथ-साथ सुनियोजित वातावरण के शिकंजे में भी कसे रहते थे। उनकी समूची दिनचर्या ऐसी कसी रहती थी, जिसमें मनोविनोद के साथ जुड़ा हुआ रचनात्मक क्रिया-कलाप भी मिला रहता था। किशोरावस्था का खतरनाक समय इसी प्रकार बीत जाता था और जीवन विज्ञान के हर पक्ष को समझ लेने के पश्चात युवावस्था के आरंभ में ये घर लौटते थे और गृहस्थ जीवन की अनेकानेक जिम्मेदारियों में जुट जाते थे। अवांछनीयता अपनाने के लिए—कुर्मार्ग पर चलने के लिए कहीं-कोई गुंजाइश ही नहीं रहती थी। पर अब तो वह प्रणाली उठ-सी गई है, जहाँ-तहाँ उस परिपाटी के खंडहर भर आकर्षक

साइनबोर्डों से सजे दीखते हैं। विद्यालयों के साथ जुड़े हुए बोर्डिंग में निवास-भोजन जैसी सुविधाएँ तो हैं, पर ऐसा नियंत्रण, वातावरण, मार्गदर्शन नहीं है, जो वहाँ रहने वाले छात्रों को उत्कृष्टता के ढाँचे में ढाल सके।

यह आवश्यक व्यवस्था आज की परिस्थितियों में कैसे बने? निर्धन लोग भी उसका लाभ लेने में कैसे समर्थ हों? इसका एक ही उपाय है कि हर जगह 'बाल विकास केंद्र' स्थापित किए जाएँ। नित्य कर्म, भोजन, शयन, स्कूली पाठ्यक्रम के अतिरिक्त जो समय बचे, उसे इसी केंद्र में रहते हुए बिताने का प्रचलन चलाया जाए।

बाल विकास केंद्रों का प्रथम कार्य हो—स्कूली पढ़ाई को परिपक्व बनाना। आम शिकायत है कि अध्यापक लोग अपने पौन-पौन घंटे के लेक्चरों में जो बात सुनाते हैं, उसे लड़के भी गंभीरता से नहीं लेते, उस पर ध्यान नहीं देते, ज्यों-त्यों करके निर्धारित घंटे काटते हैं। अध्यापक भी उतनी तन्मयता और गंभीरता से कहाँ पढ़ाते हैं, जो विद्यार्थी के मस्तिष्क में कील की तरह गड़ती चली जाए। ऐसी दशा में पढ़ने-पढ़ाने की चिन्ह पूजा ही चलती रहती है। उतने भर से ठीक तरह उत्तीर्ण होना और डिवीजन लाना कठिन पड़ता है। जिनके लिए ट्यूशन का प्रबंध हो जाता है, उनकी नाव पार लगती है, अन्यथा वह मँझधार में ढूबती है। ट्यूशन की दरें भी बहुत महँगी हो गई हैं। उनका भार उठा सकना, धनी परिवारों के लिए ही संभव होता है। गरीबों के लिए तो ऐसा प्रबंध कर पाना असंभव जैसा कठिन है। इन्हीं विडंबनाओं में फँसे हुए बहुसंख्य छात्र अक्सर विद्रोही बन जाते हैं। नकल करने के लिए निरीक्षक-परीक्षकों को डराते-धमकाते हैं या प्रलोभन का प्रबंध करते हैं।

इस स्थिति से बचने का सरल उपाय यही है कि बाल विकास केंद्र हर कक्षा के छात्रों के लिए ट्यूशन स्तर की पढ़ाई का निःशुल्क प्रबंध करें। केंद्र के खुलने का समय वह रखें, जो स्कूली पढ़ाई एवं शरीर व्यवस्था के अतिरिक्त बचता है। गरमी-सर्दियों में स्कूलों के

समय बदलते रहते हैं। उसी आधार पर इन केंद्रों का समय भी बदल दिया जाया करे। निःशुल्क ट्यूशन का लाभ प्राप्त करने के लिए हर समझदार विद्यार्थी और विचारशील अभिभावक उस व्यवस्था से लाभान्वित होने का प्रयत्न करेंगे। छात्रों की संख्या सहज ही पर्याप्त हो जाएगी। स्कूल से घर पर करने के लिए भी कुछ काम मिलता है। उसे भी केंद्र में बैठकर अध्यापकों की सहायता से अधिक अच्छी तरह पूरा किया जा सकता है। विषयों के मूल सिद्धांतों को अधिक अच्छी तरह समझा और हृदयंगम किया जा सकता है। बचपन में इस प्रकार की दुहरी शिक्षा-व्यवस्था बन पड़ने से सम्मिलित छात्रों की मेधा-प्रखरता विकसित होना स्वाभाविक है। इस कमाई के आधार पर भविष्य की उच्च शिक्षा के लिए नींव पक्की हो जाती है। प्रतिस्पर्द्धाओं में सफलता प्राप्त करने के लिए यह आरंभिक दिनों की तैयारी बहुत काम आती है। इस आधार पर मिली सफलताओं से बालकों का भविष्य उज्ज्वल बनता है। उन्हें महत्वपूर्ण प्रगति कर सकने, सम्मानप्रद स्थान मिलने में उत्साहवर्द्धक सफलता मिलती है।

बाल विकास केंद्र की स्थापना सम्मिलित होने वाले छात्रों का भविष्य हर दृष्टि से उज्ज्वल बनाती है। उन्हें कुसंग से बरबादी मोल लेने की गुंजाइश ही नहीं छोड़ती।

विकास केंद्र के खुलने का आधा समय स्कूली पढ़ाई की पूर्ति के लिए सुरक्षित रखा जाए। शेष आधे को भिन्न प्रकार के विनोद खेल-कूद में लगाने के लिए सुरक्षित रखा जाए। इस मनोरंजन में भी रचनात्मक प्रवृत्तियाँ जुड़ी रहें। विनोबा के शब्दों में, बागवानी अपने ढंग का सर्वोत्तम व्यायाम है। उसमें शारीरिक श्रम, मानसिक मनोयोग का समान रूप से उपयोग होता है, साथ ही रचनात्मक प्रवृत्ति को विकसित करने का अतिरिक्त लाभ मिलता है। बागवानी से, शाक-वाटिका से, पुष्पोद्यान से कुछ आर्थिक लाभ भी तो होता है। वह भले ही छात्र को व्यक्तिगत रूप से मिले या केंद्र की सामूहिक प्रवृत्तियों को बढ़ाने के लिए काम आए।

खेल-कूदों से शारीरिक और मानसिक स्तर का व्यायाम होता है और दोनों क्षेत्रों को परिपुष्ट होने का अवसर भी मिलता है। स्काउटिंग स्तर की प्रवृत्तियाँ साथ में जोड़ देने, फर्स्टएड जैसी कुशलताओं का समावेश रखने से मनोरंजन तो होता ही है, साथ ही सहकारिता उभरती है, पारस्परिक सहयोग की भावना बढ़ती है, मिल-जुलकर काम करने के उत्साहपूर्वक लाभ का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। फौजी कवायद स्तर की ट्रेनिंग स्वभाव में अनुशासन की स्थापना करती है। जो अनुशासन का महत्व समझेगा, वह व्यवस्थित दिनचर्या बनाकर उसका परिपालन करेगा, उसे उच्छृंखलता अपनाकर प्रामाणिकता गँवा बैठने के खतरे की भी जानकारी रहेगी, फलतः उस दुर्गति से सावधान रहेगा और बचेगा।

यही समय है, जिसमें हँसते-हँसाते जीवन विज्ञान के तथ्यों और सिद्धांतों से भी कुशल अध्यापक शिक्षार्थियों को अवगत-अभ्यस्त कराते रह सकते हैं। धर्मोपदेशकों की तरह नीति-शिक्षा देने में कइयों को अनख भी लगता है और उसे सुनने में अपना अपमान जैसा होने लगता है। अहंकारिता के इस दौर में सभी अपने को सर्वांगपूर्ण समझते हैं। दूसरों के द्वारा दिए गए दार्शनिक उपदेशों को सुन लिया जाए, तो भी पीछे व्यंग-उपहास का दौर चल पड़ता है। अस्तु, समय को समझते हुए आदर्शवादी शिक्षण सीधे न देकर प्रकारांतर से ही देना चाहिए। सुसंस्कारी परिवारों में अभी भी रात होते बच्चों को कथा-कहानियाँ सुनाई जाती हैं और बड़े भी उसमें रस लेते हैं, भले ही वे बच्चों के साथ न बैठकर अन्य कामों में लगे रहें, पर ध्यान उनका कही जा रही कहानियों की ओर ही रहता है। यह परोक्ष धर्मोपदेश की अत्यंत महत्वपूर्ण एवं मनोरंजन भरी हृदयग्राही पद्धति है। इसी आधार पर प्रज्ञा पुराण की कथाएँ भी लाखों परिवारों में कही-सुनी जा सकती हैं। यह बोए गए उत्कृष्टता के बीज समयानुसार श्रवणकर्त्ताओं के चिंतन, चरित्र और व्यवहार में उभरते हैं। इस आधार पर सुसंस्कारिता पनपाने का उद्देश्य

जितनी सरलतापूर्वक पूरा होता है, उतना और किसी प्रकार नहीं। प्राचीन काल में कथा पुराणों का कथन-श्रवण एक धर्मकृत्य माना जाता था और उतने भर से पुण्य-लाभ मिलने का माहात्म्य बताया जाता है। अब उसे नीतिशास्त्र, मनोविज्ञान एवं विनोद का सम्मिलित स्वरूप समझा जा सकता है। बाल विकास केंद्र के संचालक इस पद्धति को भी अपनाएँ और उपस्थित छात्रों में शिष्टता, सज्जनता, नागरिकता, समाजनिष्ठा जैसी सत्प्रवृत्तियाँ पनपाएँ। यदि यह प्रक्रिया जड़ पकड़ ले और सुविस्तृत हो चले, तो यह भी हो सकता है कि इस समग्र शिक्षा को संजीवनी विद्या नाम दिया जाए और उसकी परीक्षाएँ लेने प्रमाणपत्र देने का क्रम अपनाकर उत्साहवर्द्धन का एक नया स्रोत खुल जाए।

बाल विकास केंद्रों की स्थापना की वही कार्यपद्धति है, जो प्रौढ़ पाठशालाएँ स्थापित करने के लिए अपनाई जाती है। अध्यापकों की आवश्यकता उदारचेता शिक्षितों से विद्याओरण चुकाने के लिए समयदान माँगकर पूरी की जानी चाहिए। अनेक धार्मिक, सामाजिक सज्जनोचित प्रवृत्तियाँ चंदा माँगकर संपन्न की जाती हैं। शिक्षा-संवर्द्धन आंदोलनों को अग्रगामी बनाने के लिए यों धन की आवश्यकता भी किसी-न-किसी रूप में रहेगी ही। फिर अधिक आग्रह शिक्षितों से समयदान का किया जाना चाहिए। हर स्थान पर ऐसे नर-नारी मिल सकते हैं, जिन्हें निजी काम करने के उपरांत भी खाली समय रहता है। यदि वे उसे आलस्य-प्रमाद में, विनोद-व्यसन में खरच न करके बाल विकास केंद्र जैसे उच्चकोटि के परमार्थ में लगाने लगें, तो जहाँ योजना का सर्वोपरि पक्ष पूरा होगा, वहाँ समयदानी भी सच्चे श्रेय का अधिकारी बनेगा।



सेवा-साधना के सहारे व्यक्तित्व का उत्कर्ष

ज्ञानप्राप्ति का आंशिक प्रयोजन तो सुनने-सुनाने, पढ़ने-पढ़ाने से भी पूरा हो जाता है, पर वह चिरस्थायी नहीं होता। समय बीतते-बीतते विस्मृति में उत्तर जाता है। बड़े घरों की लड़कियाँ कॉलेज में होम साइंस पढ़ते समय पाक कला भी जान लेती हैं। पर यदि उन्हें माँ के घर उसका अभ्यास न करना पड़े, तो ससुराल पहुँचकर वे रसोईघर में जाने पर अनाड़ी सिद्ध होती हैं। यही बात संगीत आदि कला-कौशल के संबंध में भी है। वे बहुत दिन छूटे रहने पर अभ्यास से उत्तर जाते हैं और उसका प्रयोग करना पड़े, तो असाधारण कठिनाई अनुभव करते हैं। काम धंधों में फँस जाने पर स्कूली पढ़ाई विस्मृत हो जाती है। अखाड़ा जाना बंद कर देने पर पहलवानी के दाँवपेच स्मृति से उत्तर जाते हैं। यही कारण है कि सैनिकों को लड़ाई की संभावना न हो तो भी परेड जारी रखनी पड़ती है। मात्र युद्ध कला को समझ लेना पर्याप्त नहीं माना जाता, शिक्षा के क्षेत्र में भी यही बात है। जो लोग स्वाध्याय जारी रखते हैं, उनके मस्तिष्क में सद्ज्ञान के सिद्धांत घूमते रहते हैं। जो उस ओर से मुँह मोड़ लेते हैं, वे किसी समय के स्नातक होते हुए भी वर्तमान जीवन में उन सब विषयों से अनजान जैसे बन जाते हैं।

ज्ञान की परिपक्वता कर्म से होती है। इस सिद्धांत को भली प्रकार समझ लिया जाना चाहिए और जो उपयोगी है, उसे जीवन व्यवहार में सुनिश्चित स्थान देना चाहिए।

सत् शिक्षा उसे कहते हैं, जिसमें निजी जीवन में पुण्य और सामाजिक जीवन में परमार्थ बढ़ाने की शिक्षा दी गई है। इसके लिए

आलस्य-प्रमाद से लेकर कुटेवों और दुष्प्रवृत्तियों से छुटकारा पाने का प्रबल प्रयत्न करना पड़ता है। इतना ही नहीं, इसके लिए भी प्रयत्नशील रहना पड़ता है कि जिस ज्ञान को तर्क, तथ्य, प्रमाण उदाहरण आदि के सहारे श्रेयस्कर मान लिया गया है, उसे क्रियान्वित करते रहने की व्यवस्था बनाई जाए। अन्यथा जो सीखा गया वह मानसिक भार मात्र बनकर रह जाएगा। सूक्ष्मि है कि 'ज्ञान के अभाव में मनुष्य अंधा रहता है और कर्म के अभाव में पंगा।' बात तब बनती है जब आँखें खोलकर गंतव्य की ओर देखा भी जाता रहे और पैरों से निर्धारित लक्ष्य की ओर चलते भी रहा जाए। दोनों का सुयोग-संयोग आवश्यक है। इसलिए शास्त्रकारों ने ज्ञानयोग को भक्ति योग का पूरक बताया है। इन दोनों का समुचित क्रम चलता रहे, तो समयानुसार उपलब्ध उत्कृष्टता भाव संवेदना के रूप में विकसित होती है। उदारता, करुणा, सेवा-साधना के रूप में विकसित होती है। यही भक्ति योग है। भक्ति की संवेदनाओं की निर्झरणी निरंतर बहती रहे, इसके लिए दान-पुण्य, सेवा-सहायता के पूजा-अर्चा के कर्मकाण्ड भी करने पड़ते हैं, ताकि विकसित हुई श्रद्धा को निरंतर खाद-पानी मिलता रहे। पूजा-अर्चा छोड़ देने पर कुछ सिद्धांत विश्वास भले ही मन में जमे रहें, पर भक्ति स्तर की उमंगें तो प्रायः शिथिल ही हो जाती हैं।

यह तथ्य संजीवन विद्या के नाम से जानी जाने वाली उस जीवन कला के संबंध में समझा जाना चाहिए जो कि उत्कर्ष और विकास का केंद्रबिंदु है। उसे पाठ्य पुस्तकों के रूप में सुनना, स्वाध्याय, मनन, चिंतन के सहारे अध्यवसायरत रहना, ये सभी आवश्यक हैं। इतने पर भी मानसिक क्षेत्र के क्रिया-कलाप ही हैं, जिन्हें अभ्यास में उतार लेने के लिए कर्मकाण्डों के रूप में भी इन्हें क्रियान्वित करने की योजना बननी और चरितार्थ होती रहनी चाहिए। इसके लिए नियमित रूप से समयदान और अंशदान अपने क्रम में कटौती करके निश्चित रूप से निकाला जाना चाहिए। उसका

उपयोग भी साथ-साथ होते चलना चाहिए। कभी एक बार बहुत समय निकालकर बड़ा परमार्थ कर लिया, फिर मुद्रूतों के लिए चुप हो गए तो फिर समझना चाहिए कि सत्प्रवृत्तियाँ चर्चा का विषय बनकर रह जाएँगी, उन्हें सुसंस्कार के रूप में परिचित होने का अवसर न मिलेगा।

निजी जीवन में उपासना, व्यायाम, स्वाध्याय, मनन, चिंतन के लिए कुछ सुनिश्चित समय रखना चाहिए। इस आधार पर यह मान्यता पकती है कि ऐसी परमसत्ता के साथ जुड़े हुए हैं, जिसका समझने योग्य स्वरूप आदर्शों का समुच्चय है। आदर्शों की जीवनचर्या में साधन रूप से समाविष्ट करने की प्रेरणा प्रायः इसी अभ्यास के सहारे विकसित होती है। मनोकामना पूर्ति के लिए ईश्वर के सामने दाँत निपोरते रहना एक विडंबना हो सकती है, निष्फल भी और उपहासास्पद भी। किंतु यदि आदर्शों के किसी केंद्रबिंदु के साथ अपने आप को समर्पित भाव में जोड़ा जाए, तो ईश्वरीय सत्प्रवृत्तियाँ जीवन की पृष्ठभूमि पर प्रत्यक्ष रूप से उत्तरने लगती हैं। गुण, कर्म, स्वभाव में उत्कृष्टता का शालीनता का समुचित समावेश करती हैं। महानता, सज्जनता अपनाकर व्यक्ति सर्वतोमुखी प्रगति की ओर बढ़ता है। इस उपलब्धि को हस्तगत करने के लिए उपासनात्मक प्रक्रिया को यदि आदर्शवादिता अपनाने की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया माना जाए, तो ही उसे धर्मकृत्य की उपयोगिता निखरकर आती है।

परिवार की सुव्यवस्था का कार्य नौकरों या महिलाओं पर पूरी तरह नहीं छोड़ा जाना चाहिए। उसे जीवनोपयोगी सभी प्रशिक्षणों की प्रयोगशाला का, पाठशाला का रूप मिलना चाहिए। घर के सभी कामों को सब लोग एक साथ, एक जोश में, एक योजना के अंतर्गत करें और उनके क्रम में व्यक्तियों की नियुक्ति फेर-बदलकर होती रहे, तो हर व्यक्ति अपनी-अपनी समझ और सामर्थ्य के अनुरूप न केवल रचनात्मक क्रिया-कलाप में प्रवीण हो सकता है एवं उनके

साथ ही जीवन के कई उपयोगी दार्शनिक पक्ष भी हृदयंगम करता रह सकता है। हर कार्य के पीछे कुछ सिद्धांत भी जुड़े होते हैं। सिद्धांतों को कार्य रूप में परिणत करना होता है और कार्य के साथ जुड़ी हुई सिद्धांत शृंखला का अवलोकन करना पड़ता है। यह शैली अपनाई जा सके, तो अपने और दूसरों के कृत्य हमें इतना कुछ सिखा सकते हैं, जिससे अनुभव भरी शिक्षा की आवश्यकता पूरी हो सके।

परिवार निर्माण के कुछ प्रमुख सिद्धांत हैं, जिन्हें घर के हर सदस्य को सिखाना, अभ्यास में उतारना आवश्यक होता है। ऐसे सद्गुणों में श्रमशीलता, मितव्ययता, विनम्रता, सज्जनता, स्वच्छता, सहकारिता, सुव्यवस्था, दिनचर्या जैसी कितनी ही सत्प्रवृत्तियाँ हैं, जिन्हें पारिवारिक क्रिया-कलापों को संपन्न करते हुए न केवल क्रियान्वित किया जा सकता है, वरन् उनकी व्याख्या, विवेचना करते हुए भी अनुभव कराया जाए कि यह छोटी-छोटी बातें विकसित होकर समयानुसार मनुष्य को प्रतिभा, प्रखरता, प्रामाणिकता के क्षेत्र में अत्यंत सुयोग्य सिद्ध कर सकती हैं। इतने भर से कोई व्यक्ति सफलता-प्रतिष्ठा के क्षेत्र में उच्च शिखर तक पहुँच सकता है। सेवा-साधना और प्रशिक्षण की दृष्टि से परिवार का छोटा क्षेत्र ऐसा है जिसमें अनेकानेक उच्चस्तरीय सिद्धांतों का बीजारोपण किया जा सकता है। परिजनों को शिक्षार्थी मानते हुए उन्हें सत्प्रवृत्ति से संबंधित जीवन कला का हर पक्ष समझाया और अभ्यास करने में लगाया जा सकता है। इस प्रयोग में शिक्षक की अपनी योग्यता तो बढ़ती ही है, अध्यापक की शिक्षा सदा हरी-भरी बनी रहती है दूसरों के लिए मेंहदी पीसने वाले के अपने हाथ भी रच जाते हैं।

व्यक्तिगत सुव्यवस्था और परिवार की संस्कार दीक्षा के अतिरिक्त अगला चरण समाज सेवा का आता है। इसमें प्राथमिकता शिक्षा-संवर्द्धन को मिलनी चाहिए। प्रौढ़ पाठशाला, बाल संस्कारशाला, पुस्तकालय योजना, गृह शिल्प विद्यालय जैसी अनेकों उपयोगी

स्थापनाएँ शिक्षार्थियों और अध्यापकों को संजीवनी विद्या के उपेक्षित विषयों से अवगत एवं अभ्यस्त करा सकती हैं। इन्हें कुछेक उत्साही सेवाभावी मिलकर किसी न किसी रूप में कहीं भी कार्यान्वित कर सकते हैं। यह प्रयास गति पकड़ ले, तो उनके दूरगामी परिणाम हो सकते हैं।

इसके अतिरिक्त सामूहिक सेवा-साधना के अनेक रूप हैं। स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार इस संदर्भ में नए सिरे से सोचा और कार्य रूप में परिणत करने-कराने के लिए अग्रसर हुआ जा सकता है। कुछ साथी-सहयोगी अपनी मित्र-मंडली में से ही जुटाए जा सकते हैं। कोई न मिले तो सार्वजनिक सेवा के कार्यक्षेत्र में एकाकी अपने बलबूते भी उतरा जा सकता है।

गाँव, मुहल्ले की व्यायामशालाएँ बन सकती हैं। उनमें मात्र खेल-कूदों का, दंड-बैठक का धिसा-पिटा उपक्रम ही न चलता रहे, वरन् शरीर-संरचना, आहार विज्ञान, स्वच्छता, स्वास्थ्य रक्षा, शिष्टाचार, सेवा-धर्म का रसास्वादन जैसी आवश्यक विद्याओं को सिखाते, समझाते रहने का एक पाठ्यक्रम जुड़ा रहना चाहिए। स्काउटिंग व्यायामशालाओं का अनिवार्य विषय हो। इसी प्रकार फर्स्ट एड, होम नर्सिंग, आदि की शिक्षा भी इन स्वास्थ्य-केंद्रों में चलाई जाती रहे। आयु और क्षमता के अनुरूप हर किसी को इन व्यायामशालाओं से सीखने को मिले।

सामूहिक श्रमदान एक स्वतंत्र आंदोलन है। जिसे पाठशाला, व्यायामशाला की तरह ही उपयोगी माना जा सकता है। इस हेतु स्थानीय उत्साही जनों की एक मंडली गठित की जाए, जो स्थानीय समस्याओं को समझाने, आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अवसर ढूँढ़ती रहे और उन्हें पूरा करने के लिए संकल्पयुक्त साहस जुटाती रहे। गंदगी की समस्या हर जगह विकृत रूप में देखी जाती है। सफाई कर्मचारी उतने मिल नहीं पाते। जो मिलते हैं, वे पूरे मन से काम नहीं करते। इसलिए गंदगी यथास्थान पड़ी रहती है और

सड़कर बीमारियाँ उत्पन्न करती हैं। देहाती क्षेत्रों में तो गली-कूचे बुरी तरह सड़ते हैं। उससे प्रत्यक्षतः दुर्गंध, कुरुचि एवं परोक्ष रूप में बीमारियाँ पनपती हैं। श्रमदान मंडलियाँ गाँव की सफाई का कार्य तो आसानी से हाथ में ले सकती हैं। पशुओं और मनुष्यों के मल-मूत्र को उपयोगी खाद के रूप में परिणत करने के निमित्त अपनी श्रमसेवा को नियोजित कर सकती है। कुओं की, तालाबों की सफाई होते रहना भी आवश्यक है। इससे स्वास्थ्य-रक्षा की और अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति का सीधा संबंध है। गांधीजी सेवाकार्यों में सफाई अभियान को कलात्मक दृष्टिकोण का परिचायक मानते थे और अन्यायों को प्रेरणा देने वाला प्रत्यक्ष मार्गदर्शन भी।

दुष्प्रवृत्तियों की, दुर्जनों की रोकथाम करने के लिए जागरूकता को सक्रिय रखने के लिए रात को पहरा देने की एक नई सेवा-साधना भी चलाई जा सकती है। इसमें संलग्न व्यक्ति अपने को न केवल सुरक्षा का वरन् समाज का, मर्यादाओं की यथा-स्थान बनाए रहने वाला प्रखर प्रहरी अनुभव करने लगता है। इस आधार पर वह सुधारात्मक बड़े काम भी करता है।

नशेबाजी और खरचीली शादियाँ अपने देश की यह सबसे बड़ी बुराइयाँ हैं। जन्मजाति के आधार पर मानी जाने वाली ऊँच-नीच प्रक्रिया, नारी की उपेक्षा, अवहेलना जैसे प्रचलन भी इस योग्य हैं कि उन्हें वैयक्तिक परामर्श के साथ-साथ उखाड़ने वाले सुधार अभियान भी चलाए जाने चाहिए। शिक्षा की सार्थकता इतना करने पर ही पूरी हुई मानी जानी चाहिए।

